विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन
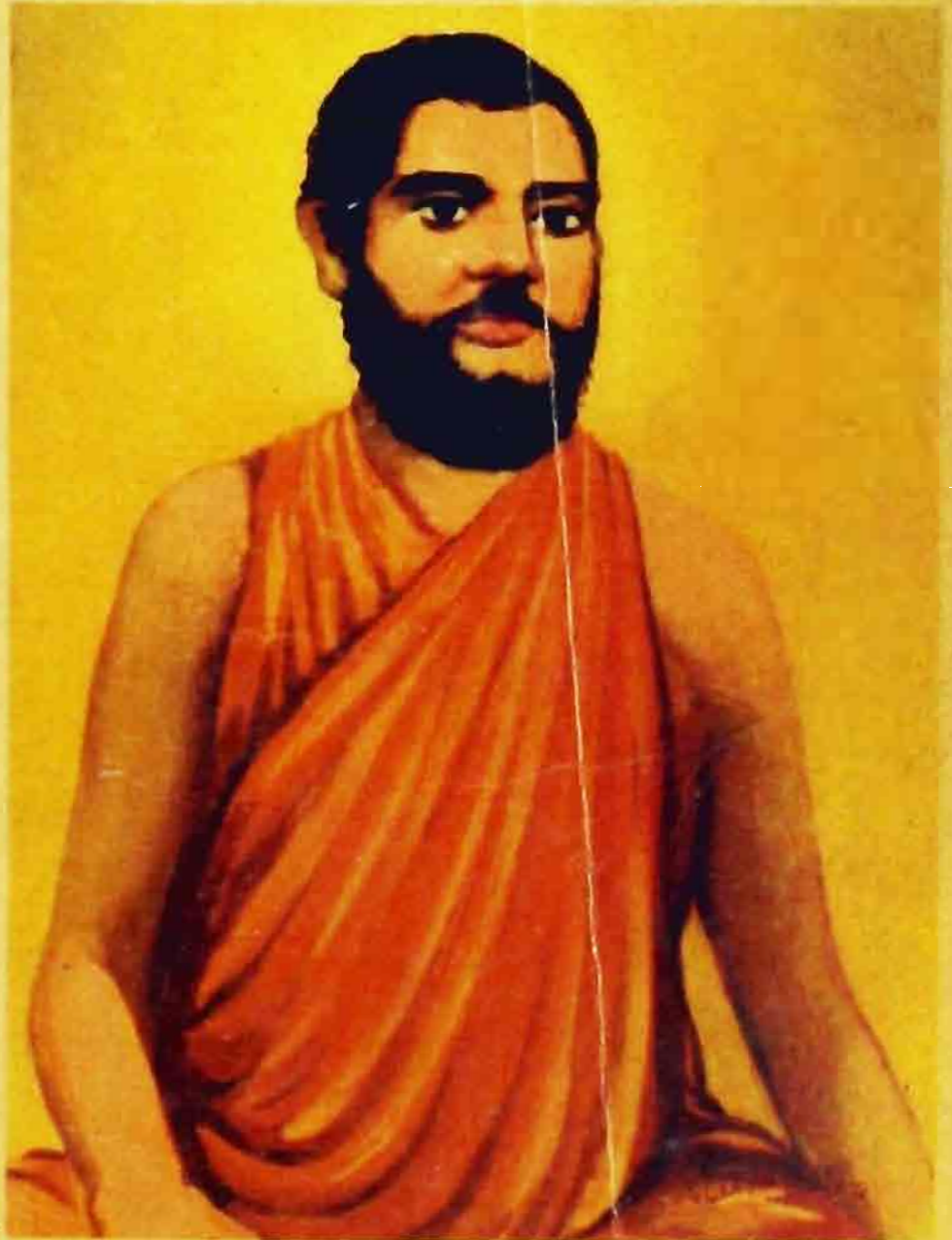
विवेकानन्द आश्रम रायपुर

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई – अगस्त – सितम्बर

★ १९७२ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक
स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी प्रणवानन्द

वार्षिक ४)   वर्ष १० अंक ३   एक प्रति १)

फोन : १०४६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (मध्यप्रदेश)

अनुक्रमणिका

-:०:-

कव्हर चित्र परिचय - स्वामी विवेकानन्द का सम्भवतः सर्वप्रथम लिया गया चित्र, कलकत्ता सन् १८८५ ई०

मुद्रण स्थल : नरकेसरी प्रेस, रायपुर, (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १०] जुलाई – अगस्त – सितम्बर [अंक ३

वार्षिक शुल्क ४) ★ १९७२ ★ एक प्रति का १)

ब्रह्मज्ञ की पहचान

विज्ञातब्रह्मतत्त्वस्य यथापूर्वं न संसृतिः ।
अस्ति चेन्न स विज्ञातब्रह्मभावो बहिर्मुखः ।।

--जिसने ब्रह्मतत्त्व को जान लिया है उसमें पहले के समान इन्द्रिय-विषयों के प्रति आसक्ति नहीं रह जाती । यदि उसमें आसक्ति दिखायी देती है, तो उसने ब्रह्म के स्वरूप को नहीं पहचाना है और वह एक बहिर्मुखी, संसारी व्यक्ति है ।

--विवेकचूड़ामणि, ४४२ ।

बैठिय अपने ठाम

एक समय की बात है, एक व्यक्ति कुआँ खोदना चाहता था। किसी ने उसे सलाह देते हुए कहा कि अमुक जगह कुएँ के लिये अच्छी होगी, क्योंकि वहाँ पर अच्छा पानी मिलने की आशा है। उस व्यक्ति ने वैसा ही किया। पर जब १५ हाथ खोदने पर उसे पानी न मिला तो वह अधीर होने लगा। इतने में एक दूसरा आदमी उस रास्ते से निकला। उसने कुएँ खोदनेवाले व्यक्ति की मूर्खता पर हँसते हुए कहा, 'अरे! यह कौनसी जगह तुमने चुन ली! यहाँ कैसे पानी निकलेगा? चलो मेरे साथ। मैं तुम्हें कुएँ के लायक बढ़िया जगह बतलाता हूँ।' यह सुन उसने वहाँ पर कुआँ खोदना बन्द कर दिया और जो स्थान उस दूसरे व्यक्ति ने बताया था वहाँ उसने खुदाई शुरू कर दी।

अबकी बार वह २० हाथ गहरा खोद चुका था, पर पानी नहीं मिला था। इतने में एक तीसरा आदमी वहाँ आया और उसने एक अन्य स्थान पर कुआँ खोदने की सलाह दी। उसने वैसा ही किया। यह दूसरा कुआँ भी २० हाथ गहरा छोड़ वह तीसरे स्थान पर कुआँ खोदने लगा। इस बार वह काफी उत्साह और लगन से खोद रहा था। पर जब ३० हाथ जाने पर भी पानी न मिला तो वह हताश होने लगा। इतने में एक चौथा आदमी आया। उसने कुएँ खोदनेवाले के प्रति सहानुभूति व्यक्त

की और उससे कहा, 'देखो भाई! तुमने मेहनत तो बड़ी की है, पर हर बार तुम गलत जगह कुआँ खोदते रहे हो। तुम्हें गलत सुझाव दिये गये। इसीलिए तुम्हारे परिश्रम का कोई फल नहीं निकला। आओ मेरे साथ। मैं ऐसी जगह तुम्हें ले चलता हूँ, जहाँ जमीन में कुदाल छुलाओगे कि जल की धारा उमड़ पड़ेगी।'

प्रलोभन बड़ा जबरदस्त था। कुआँ खोदनेवाला चौथे आदमी के संग हो लिया और उसकी सलाह के अनुसार खुदाई करने लगा। वह हर क्षण पानी के हरहराकर निकलने की आशा करता और निराश हो जाता। इस प्रकार वह २० हाथ गहरा खोद गया, पर पानी नहीं ही निकला! तब तो अत्यन्त हताश हो उसने कुआँ खोदने का काम ही छोड़ दिया। चारों बार मिलाकर उसने ८५ हाथ की गहराई खोद डाली थी! यदि वह धीरज और अध्यवसाय के साथ एक ही स्थान पर इसकी आधी ही गहराई तक जाता, तो उसे अवश्य सफलता मिली होती।

इसी प्रकार, जो व्यक्ति एक साधना-प्रणाली में स्थिर नहीं हो पाता, वह अपनी अधीरता के कारण एक के बाद दूसरी साधना-प्रणाली अंगीकार करता रहता है और इस तरह अन्त में धर्म के प्रति विश्वास खोकर नास्तिक बन जाता है।

❁

मन और उसका निग्रह

स्वामी बुधानन्द

(स्वामी बुधानन्दजी अद्वैत आश्रम, मायावती, अल्मोड़ा, हिमालय, के अध्यक्ष हैं। वे सुप्रसिद्ध अँगरेजी मासिक पत्रिका 'प्रबुद्ध भारत' का सम्पादन भी करते हैं। उन्होंने 'The Mind and its Control' नाम से एक सुन्दर पुस्तिका लिखी है। हिन्दी भाषी पाठकों के लाभार्थ हम उक्त पुस्तिका का अनुवाद धारावाहिक रूप से प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

१. मनोनिग्रह : कठिन किन्तु सम्भव

मन और उसका निग्रह एक ऐसा विषय है, जिसमें हम सभी व्यक्तिगत रूप से बड़ी गहरी दिलचस्पी रखते हैं, क्योंकि हमारा मन ही हम पर सबसे अधिक प्रभाव डालता है। हममें से प्रत्येक इस विषय में कुछ-न-कुछ जानकारी रखता है। हम सभी अपने मन को वश में लाने का प्रयत्न करते हैं। तथापि हमें इस सम्बन्ध में और अधिक जान लेना चाहिये तथा अधिक अच्छा प्रयत्न करना चाहिये।

क्या इस विषय मे कोई हमारी सहायता कर सकता है? हाँ, जिन्होंने अपने मन को पूरी तरह वश में कर लिया है, वे हमें सहायता दे सकते हैं। ऐसे लोगों से हम जो सीख सकते हैं उसी को यहाँ पर एक सरल साधना-प्रणाली के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

मनोनिग्रह एक बहुत मजेदार भीतरी खेल है यदि तुम्हारी मनोवृत्ति खिलाड़ी की है तो हारनें की सम्भावना के बावजूद तुम इस खेल का भरपूर मजा ले सकोगे। यह खेल हमसे पर्याप्त मात्रा में कौशल, सतर्कता, विनोद-प्रियता, सहृदयता, रणचातुर्य, धीरज और कुछ अंशों में शौर्य की अपेक्षा रखता है, जो सैकड़ों असफलताओं के बावजूद हमें टूटने से बचाता है।

गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को समझा रहे थे कि योग की चरम स्थिति कैसे प्राप्त हो सकती है। उनकी बात सुनकर अर्जुन ने हताशा के स्वर में उनसे कहा (६।३३-३४)——

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात् स्थितिं स्थिराम्॥
चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

——'हे मधुसूदन! आपने मन की समता रूप जिस योग की बात कही है, मैं नहीं जानता कि मन की चंचलता को देखते हुए वह स्थिति कैसे टिक सकती है। क्योंकि हे कृष्ण! मन तो बड़ा ही चंचल, उद्दण्ड, बली और हठी है। मैं तो उसको वश में करना वायु को वश में लाने के समान दुष्कर मानता हूँ।'

श्रीकृष्ण मानव-चरित्र का प्रतिनिधित्व करनेवाले अर्जुन की इस शिकायत को सुनते हैं और उसका जो उत्तर देते हैं वह सभी युगों के मानवों के लिए महत्त्वपूर्ण

है। मनोनिग्रह पर समस्त भारतीय चिन्तन और साधना-प्रणाली प्रमुखतः श्रीकृष्ण के इसी उपदेश पर आधारित है। वे कहते हैं (६।३५)——

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

——'हे महाबाहो! निस्सन्देह मन बड़ा चंचल और कठिनता से वश में आनेवाला है, परन्तु हे कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उसका निग्रह सम्भव है।'

उपर्युक्त वार्तालाप से हमें मनोनिग्रह के सम्बन्ध में तीन आधारभूत तथ्य प्राप्त होते हैं——

(१) मनोनिग्रह अर्जुन के समान वीर्यवान् पुरुषों के लिये भी सदैव से अत्यन्त कठिन कार्य रहा है।

(२) तिस पर भी मन का वश में करना सम्भव है।

(३) मनोनिग्रह के सुनिर्धारित तरीके हैं।

'अभ्यास' और 'वैराग्य' इन दो शब्दों में श्रीकृष्ण ने मनोनिग्रह का सारा रहस्य ही व्यक्त कर दिया। भारत के सभी सन्त-महात्माजन युग-युग से एक स्वर से यही कहते रहे हैं कि 'अभ्यास' और 'वैराग्य' के अलावे मन को वश में करने का और कोई उपाय नहीं है। इसे 'अभ्यासयोग' भी कहा जाता है। हम यहाँ पर श्रीरामकृष्ण देव तथा एक भक्त के बीच हुए वार्तालाप को उद्धृत करते हैं जिसमें श्रीरामकृष्ण देव एक सारभूत बात पर बल देते हैं जो सबके लिये स्मरणीय है——

श्रीरामकृष्ण – कुछ उद्दीपना हो रही है, यह देखकर चुप्पी न साध जाना। बढ़ जाओ! चन्दन की लकड़ी के बाद और भी चीजें हैं–– चाँदी की खान –– सोने की खान!

प्रिय – जी, पैरों में जो बेड़ियाँ पड़ी हुई हैं, उनके कारण बढ़ा नहीं जाता।

श्रीरामकृष्ण – पैरों के बन्धन से क्या होता है? बात असल मन की है। मन के द्वारा ही आदमी बँधा हुआ है और उसी के द्वारा छूटता भी है।

प्रिय मन मेरे बस में भी तो नहीं है।

श्रीरामकृष्ण – यह क्या! अभ्यासयोग––अभ्यास करो, फिर देखोगे मन को जिस ओर ले जाओगे, उसी ओर जायगा। मन धोबी के यहाँ का कपड़ा है। वहाँ से लाकर उसे लाल रंग से रँगो तो लाल हो जायगा और आसमानी से रँगो तो आसमानी। जिस रंग से रँगोगे, वही रंग उस पर चढ़ जायगा। *

निस्सन्देह अभ्यास और वैराग्य ही मनोनिग्रह का रहस्य है, पर प्रश्न यह है कि इन दोनों गुणों को जीवन में कैसे लाया जाय। इसके लिये

(१) मन पर संयम पाने की इच्छाशक्ति को दृढ़ बनाना पड़ता है;

(२) मन के स्वभाव को जानना पड़ता है;

(३) हमें कुछ साधना-प्रणालियाँ सीखकर लगन और विचारपूर्वक उनका नियमित अभ्यास करना पड़ता है।

* श्रीरामकृष्णवचनामृत, 'म' कृत, भाग २, १९७०, पृष्ठ ३२०-२१, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर।

२. मन पर संयम पाने की इच्छाशक्ति को दृढ़ कैसे बनायें

ऐसा कहना असंगत होगा कि मन को वश में लानें के लिये हममें कोई इच्छाशक्ति नहीं है। हममें से प्रत्येक के अपने भीतरी संघर्ष हैं और इसी से इच्छाशक्ति का होना सूचित हो जाता है। परन्तु यह बात अवश्य है कि बहुतों में मनोनिग्रह की यह इच्छाशक्ति विशेष प्रबल नहीं हुआ करती।

जब तक हम ऐन्द्रिक सुख की प्राप्ति को जीवन के प्रमुख प्रयोजनों में गिना करते हैं और जब तक हम विचारपूर्वक उसका सर्वथा त्याग नहीं कर देते, तब तक मन को वश में करने का संकल्प सबल नहीं हो सकता। ऐन्द्रिक सुख की लालसा वास्तव में नासूर के समान है जो मनोनिग्रह के संकल्प को चूसकर शिथिल कर देती है। इसका यों उदाहरण ले लें—यदि तुम्हारा नौकर जानता है कि तुम अवैध मादक द्रव्यों के लिये उसी पर निर्भर हो और यदि तुम दोनों एक साथ मिलकर उनका सेवन करते हो, तो तुम उस नौकर को अपने वश में नहीं रख सकते। मन के साथ भी ऐसा ही है। जिस मन को हम इन्द्रिय-सुखों की खोज में तथा उनके भोग में लगाया करते हैं, उसे तब तक वश में नहीं लाया जा सकता जब तक हम सुख की लालसा को छोड़ नहीं देते। सुख-भोग की स्पृहा को त्याग देने के बाद भी मन को नियंत्रण में लाना सहज नहीं होगा, क्योंकि वह पुरानी यादों को उठाकर हमें सदैव परेशान करता रहेगा। सुख

भोग की स्पृहा का त्याग जिस परिमाण में बली और तीव्र होगा, उसी परिमाण में हमारा मनोनिग्रह का संकल्प भी सुदृढ़ होगा। जब तक सुख पाने की लालसा बनी हुई है, तब तक चाहे हम जो करें, हम मन को किसी भी प्रकार पूर्ण नियंत्रण में नहीं ला सकते। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो सुख-प्राप्ति की स्पृहा छोड़ने के अनिच्छुक हैं, वे ऊपर से चाहे जैसी घोषणाएँ करें, पर वस्तुतः मनोनिग्रह की चाह उनमें विशेष नहीं है।

सुख-भोग की स्पृहा के त्याग का अर्थ आनन्द-प्राप्ति की स्पृहा का त्याग नहीं है। सुख का अर्थ है इन्द्रिय-सुखों का उपभोग, या कि जैसा श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे, 'कच्चा मैं' की तुष्टि। ये दोनों आनन्द की प्राप्ति में बाधक हैं। यह आनन्द ही जीवन का परम लक्ष्य है और उसे पाने के लिए हमें सुख और दुःख दोनों से ऊपर उठ जाना पड़ता है। हमारा स्वरूप ही सत्-चित्-आनन्द का है, यह आनन्द अविच्छिन्न है; अतएव आनन्द-प्राप्ति की इस इच्छा को छोड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। सुख-भोग की स्पृहा का त्याग करने के लिये किन उपायों का अवलम्बन करना चाहिये, इसकी चर्चा आगे चलकर करेंगे।

कभी कभी दो विरोधी बातें समान दिखायी देती हैं। दो प्रकार के लोग ऐसे हैं, जिनमें मानसिक संघर्ष नहीं होता। एक तो वे हैं जो पूरी तरह अपनी निम्न प्रकृति के क्रीत दास बन गये हैं और दूसरे वे हैं, जिन्होंने अपनी

निम्न प्रकृति को पूरी तरह जीत लिया है। शेष सभी के भीतर किसी न किसी परिमाण में संघर्ष हुआ करते हैं। ये संघर्ष मनःसंयम के अपर्याप्त अथवा असफल प्रयत्नों के फलस्वरूप उपजा करते हैं। दुर्बल इच्छाशक्ति के कारण तथा मनोनिग्रह के उपायों की जानकारी के अभाव में हमारा प्रयत्न शिथिल हो जाता है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात है इच्छाशक्ति को इतना सुदृढ़ बनाना कि यदि हम बार-बार असफल हो जायँ तो भी हम निराश न हों, बल्कि इसके विपरीत मनःसंयम की हर असफलता हममें नवीन उत्साह भर दे तथा मनोनिग्रह में हमें पुनः नियुक्त कर दे।

अब प्रश्न यह है कि मन को वश में लाने की इस इच्छाशक्ति को सुदृढ़ कैसे बनाया जाय? इच्छाशक्ति को जो बातें दुर्बल बना देती हैं, उन्हें दूर करना होगा और उनके स्थान पर अनुकूल तत्त्वों को उपस्थित कर उस में शक्ति-संचार करना होगा।

यह सम्भव है कि हममें से कई लोगों ने मन के साथ संघर्ष किया होगा और कई बार असफल हुए होंगे। अतएव स्वाभाविक ही यह सोचते होंगे कि मनोनिग्रह हमारे बस को बात नहीं है। इच्छाशक्ति के कमजोर होने का दूसरा कारण यह भी है कि हममें से अधिकांश यह स्पष्ट धारणा नहीं कर पाते कि मनोनिग्रह में वास्तविक बाधा कौन सी है। यदि कर पाते, तो जिजीविषा की सहज वृत्ति ने ही मन को वश में लाने की हमारी इच्छाशक्ति को

बली बना दिया होता। मनोनिग्रह में असफल हो जाना ऐसा कोई कारण नहीं है कि हम अपने को अनुचित रूप से कोसते रहें। अच्छे से अच्छा पुरुष के लिये भी मन का संयम सहज बात नहीं हैं। इसका कारण यह है कि मन बड़ा चंचल है। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं --

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।। २।६०
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।। २।६७

--'हे कौन्तेय! अभ्यासशील बुद्धिमान् पुरुष के भी मन को ये उद्दण्ड इन्द्रियाँ बलपूर्वक हर लेती हैं। जैसे वायु जल में नाव को हर लेती है, वैसे ही इन्द्रियों के पीछे पीछे चलनेवाला मन पुरुष के विवेक का हरण कर लेता है।'

बुद्ध उपदेश देते हैं --

यो सहस्सं सहस्सेन संगामे मानुसे जिने।
एकं च जेय्य अत्तानं स वे संगामजुत्तमो।।

--'मनुष्य हजारों मनुष्यों को युद्ध में हजारों बार जीत ले, पर उससे बढ़कर युद्धविजेता वह है, जिसने एक अपने पर विजय प्राप्त कर ली है।' (धम्मपद, १०३)

इन उद्धरणों से हम समझ सकते हैं कि मन का निग्रह संसार में सबसे कठिन काम है। यह वास्तव में एक वीरोचित कार्य है। अतएव यदि मन को वश में लाने के प्रयत्न में हम यदा-कदा असफल हो गये अथवा लगातार ही असफल होते रहे, तो उसे बहुत गम्भीर रूप से नहीं

लेना चाहिए। बल्कि असफलताओं को बढ़ावा मानकर हमें अधिक लगन, धैर्य, अध्यवसाय और बुद्धिमानी पूर्वक अभ्यास में लग जाना चाहिये। हताश होने की कोई बात नहीं, क्योंकि महापुरुष हमें भरोसा दिलाते हैं कि मन का पूर्ण निग्रह सम्भव है। अतः इच्छाशक्ति को दुर्बल बनानेवाली बातों को हमें विषवत् त्याग देना चाहिये।

३. मनःसंयम के रास्ते संकट क्या है

हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि मनःसंयम के रास्ते संकट क्या है। मन के असंयम के फलस्वरूप व्यक्ति के जीवन में सर्वाधिक बुरा परिणाम जो हो सकता है वह है पागलपन। समष्टिगत रूप से देखें तो मन का असंयम एक समूची सभ्यता के पतन का कारण हो सकता है, फिर भले ही वह कितनी ही प्रगतिशील क्यों न दिखती हो। इसके अतिरिक्त कई ऐसी कुछ कम दुर्भाग्यपूर्ण बातें हो सकती हैं जो प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्ष रूप से मन के असंयम से उपजती हों।

मन का असंयम व्यक्तित्व के गठन में प्रभावी रूप से बाधक होता है। जिस व्यक्ति का मन नियंत्रित नहीं है, वह सदैव असामान्य मानसिक विकारों का शिकार हो सकता है और भीतरी द्वन्द्व के कारण उसका मस्तिष्क असन्तुलित हो सकता है। ऐसा व्यक्ति अत्यन्त अनुकूल परिस्थितियों में भी अपनी सम्भावनाओं को नहीं पहचान पाएगा और न अपेक्षाओं की ही पूर्ति कर सकेगा।

जिसे अपने मन पर नियंत्रण नहीं, उसे मन की शान्ति नहीं मिल सकती। जिसे मन की शान्ति नहीं, उसे सुख कैसे मिल सकता है? वह तो वासनाओं, भावनाओं और तनावों का शिकार होकर, सम्भव है, दुःसाध्य मानसिक रोगों से आक्रान्त हो जाय अथवा एक अपराधी बन जाय। यदि वह एक परिवार का मुखिया है, तो परिवार में अनुशासन-हीनता, अव्यवस्था, दुराचार और दुःखद मानवी सम्बन्धों का व्याप जाना सम्भव है, जिसके फलस्वरूप परिवार दुर्भाग्य का शिकार बन सकता है।

बँगला में एक कहावत है--'गुरु, कृष्ण, वैष्णव तीन की दया हुई, एक की दया बिना जीव की दुर्गति हुई।' यह एक है अपना मन। मन की दया होने का मतलब है उसका पकड़ में आ जाना।

दूसरी ओर, मनोनिग्रह से जो उच्चतम लाभ हो सकता है वह है आध्यात्मिक परिपूर्णता की प्राप्ति। मनःसंयम से प्राप्त होनेवाले कुछ छोटे छोटे लाभ तो बहुत से हैं। नियंत्रित मन को सहज ही एकाग्र किया जा सकता है। मन की एकाग्रता से ज्ञान उपलब्ध होता है और ज्ञान ही शक्ति है।

मनोनिग्रह का एक स्वाभाविक फल है--व्यक्तित्व का गठन। ऐसा व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सफल होता है। मन का नियमन उसे निश्चंचल बनाता है और चंचलता का अभाव मन में शान्ति को जन्म देता है। मन की शान्ति सुख को उत्पन्न करती है। एक सुखी व्यक्ति दूसरों

को भी सुखी बनाता है । उसके कार्य की गुणवत्ता क्रमशः बढ़ती ही जाती है और वह स्वाभाविक रूप से बहुधा अक्षय उन्नति का भागी होता है । ऐसी बात नहीं कि ऐसे व्यक्ति को जीवन में परीक्षा की घड़ियों में से नहीं जाना पड़ता । बात यह है कि ऐसी घड़ियों का सामना करने की शक्ति और साहस का उसमें कभी अभाव नहीं होता । वह जिस परिवार का मुखिया होता है, वहाँ व्यवस्था, अनुशासन, सुख, संस्कार और उत्तम मानवी सम्बन्धों का सौरभ भरा रहता है । समाज ऐसे व्यक्ति को अच्छे जीवन की मिसाल के रूप में देखता है ।

जिसका मन नियंत्रित है, वह मानसिक रोगों से मुक्त रहेगा तथा मानसिक तनाव से उत्पन्न शारीरिक पीड़ाएँ भी उससे दूर ही रहेंगी ।

जिस पुरुष ने अपने मन को वश में कर लिया है, उसमें उसका उच्चतर स्वभाव कार्यशील होता है तथा उसकी निहित शक्तियाँ अभिव्यक्त हो जाती हैं । मित्रगण अचरज करने लगते हैं कि कैसे उनके देखते ही देखते यह इतना महान् बन गया । संस्कृत में एक सुभाषित है जो कहता है -- 'ससार को कौन जीतता है ? वही, जो अपने मन को जीतता है ।'

मनोनिग्रह के बिना किसी भी क्षेत्र में मनुष्य को न तो स्थायी उन्नति प्राप्त होती है और न समृद्धि या शान्ति ही । मनःसंयम के अभाव में मनुष्य प्राप्त समृद्धि से भी हाथ धो बैठता है ।

मनोनिग्रह के रास्ते ये ही संकट हैं। मनोजय की इच्छा को दृढ़तर बनाने के लिये हमें अपने मन को यह समझाना चाहिये कि बिना उसके हम कहीं के न रहेंगे। हमें अपने मन में यह बात अंकित कर लेनी चाहिये कि हमारे समग्र भावी जीवन का ढाँचा इस पर निर्भर करता है कि हम अपने मन को वश में करते हैं या नहीं। जीवन में शरीर की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के बाद, अन्य बातें भी महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं; लेकिन जीवन के आध्यात्मिक पूर्णता रूप उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये मनोनिग्रह से बढ़कर महत्त्व की कोई बात नहीं है। एक बार यदि हम इस बात को सचमुच समझ लें और उस पर विश्वास कर लें, तो मन को वश में करने की अपनी इच्छाशक्ति को हम इच्छानुसार दृढ़ बना सकेंगे।

४. सुख-भोग की स्पृहा को दूर कैसे किया जाय

हमने कहा है, 'जब तक सुख-भोग की स्पृहा दूर नहीं होती, तब तक हम चाहे जो करें, मन को कभी पूरी तरह वश में नहीं कर पाएँगे।' यह कथन बहुत से साधकों को चोट पहुँचा सकता है, पर बात तो सत्य ही है। हमें इस बात को अधिक गहराई से समझ लेना चाहिये।

यह फट् से कह देना तो सरल है कि जब तक सुख-भोग की स्पृहा का त्याग नहीं किया जाता, तब तक

मनोनिग्रह के लिये दृढ़ इच्छाशक्ति नहीं पैदा हो सकती, लेकिन सुख-स्पृहा हममें स्वाभाविक होने के कारण हमारे रक्त और मांस में इस गहराई तक भिदी हुई है कि उसे अत्यन्त कठिनाई से ही निकाला जा सकता है। तथापि हम ऐसा सोचकर अपने भीतर की अवस्था को जटिल न बना लें कि चूँकि हममें सुख-भोग की स्पृहा है इसलिये हम खराब हैं। सुख की स्पृहा अपने आप में कोई पाप नहीं है। पर हाँ, यदि हम अनैतिक इन्द्रिय-भोगों में लग जाते हैं तो उससे हमारा बन्धन और दृढ़ हो जाता है तथा हमारा उच्चतर आत्मिक विकास रुक जाता है। इसे अवश्य हम पाप कह सकते हैं। जो उच्चतर आदर्शों से प्रेरित होकर समस्त सांसारिक एषणाओं का त्याग कर देते हैं ऐसे इने-गिने व्यक्तियों को छोड़कर, जिनके लिये हम यहाँ पर चर्चा नहीं कर रहे हैं, शेष सबके लिये तो सुख-भोग की लालसा की सन्तुष्टि के बिना यह जीवन ही सम्भव न होगा। अधिकांश मानवजाति के लिये तो यही एक प्रश्न होगा, 'यदि सुख-भोग के लिये न जियें तो किसके लिये जियें ?' यह लालसा मनुष्य में एक जीवन्त शक्ति है और वह मनुष्य को जीवित रखती है। तथापि यह भी सत्य है कि सुख की यह लालसा मन:संयम की हमारी इच्छाशक्ति को शिथिल बना देती है। तब इस आन्तरिक समस्या का समाधान क्या है ?

यह सत्य है कि बहुलांश जनता के लिये भोग-सुख

का अस्वीकार कोई समाधान नहीं हो सकता। फिर, भोग-सुख के ही पीछे दौड़ते रहना भी कोई उत्तर नहीं हो सकता। समाधान तो अपनी सुख की प्रेरणा को धीरे धीरे संस्कारित करने में तथा अपने यथार्थ स्वरूप को पहचानने में है। समाधान इसमें है कि हम जान लें इस सुख की प्रेरणा को आत्मोत्थान में कैसे लगाया जाय। यहाँ पर कुछ स्पष्टीकरण की आवश्यकता होगी।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि हम ऐसी सामान्य समस्या पर विचार कर रहे हैं जो नौसिखियों के सामने आती है, जो दुनियादार हैं पर अध्यात्म के पथ पर चलने की इच्छा रखते हैं। जो आगे बढ़े हुए साधक हैं, उनके लिये यहाँ पर विवेच्य कुछ बातें लागू नहीं होंगी। वे जान जाएँगे कि वे बातें कौनसी हैं। उदाहरणार्थ, मर्यादित इन्द्रिय-सुखों का उपभोग उस साधारण व्यक्ति के लिये तो ठीक है जिसे आध्यात्मिक जीवन में शुरुआत करनी है, लेकिन उसके लिये ठीक नहीं है जो कुछ कदम आगे बढ़ चुका है।

जिसके स्वभाव में सुख-भोग की लालसा विशेष रूप से बनी हुई है, उससे कहना कि 'सुख-भोग की स्पृहा त्यागो', कोई व्यावहारिक बात नहीं होगी। भारत के ऋषि-मुनि सत्य के द्रष्टा तो थे ही, साथ ही वे मानव-मनोविज्ञान के भी सुदक्ष ज्ञाता थे तथा करुणावान् उपदेशक थे। इस विषय पर उन्होंने जो शिक्षा दी, उसे कुछ शब्दों में यों रखा जा सकता है—यदि सुख की चाह है तो

उसका भोग करो, पर ख्याल रखो कि तुम्हारा शारीरिक या मानसिक स्वास्थ्य नष्ट न हो पाये, तुम्हारा आत्मिक विकास रुक न पाये। यदि शारीरिक सुख तुम्हें चाहिये ही, तो इस प्रकार उनका भोग करो जिससे मानसिक सुख के उपभोग की क्षमता तुममें बनी रहे; मानसिक सुखों का भोग इस प्रकार करो कि आत्मा के सुख को प्राप्त करने की तुम्हारी शक्ति सुरक्षित रहे। सुख के पीछे इस प्रकार न दौड़ो कि वह तुम्हें ही नष्ट कर दे। विचारवान व्यक्तियों को यह बात सारवान मालूम पड़ेगी। मन:संयम में सहायक जितने नैतिक नियम हैं, वे इसलिये बनाये गये हैं कि मनुष्य स्वयं अपनी हानि करने से अपने को बचा सके। इस प्रकार वे उसी का सर्वोच्च हित-साधन करते हैं।

सर्वप्रथम उच्छृंखल ऐन्द्रिय सुख की लालसा को आत्मविकास के चौखटे में बिठाकर पालतू बनाना पड़ता है। तब कहीं उसके उन्नयन की पारी आती है। यहाँ पर 'उन्नयन' से हमारा क्या तात्पर्य है? श्रीरामकृष्ण उपदेश देते हैं --

....आनन्द तीन प्रकार के होते हैं--विषयानन्द, भजनानन्द और ब्रह्मानन्द। जिसमें लोग सदा ही लिप्त रहते हैं--जो कामिनी और कांचन का आनन्द है, उसे विषयानन्द कहते हैं। ईश्वर के नाम और गुणों का गान करने से जो आनन्द मिलता है, उसका नाम है भजनानन्द और ईश्वर के दर्शन में जो आनन्द है, उसका नाम है ब्रह्मानन्द। ब्रह्मानन्द को प्राप्त करके ऋषि स्वेच्छा-विहारी हो जाते थे। †

† श्रीरामकृष्णवचनामृत, भाग २, पृ. २०३-४।

उन्नयन का अर्थ है उपर्युक्त आनन्द के स्तरों में नीचे के स्तर से ऊपर के स्तर में जाना। हमें ध्यान रखना चाहिये कि ब्रह्मानन्द की प्राप्ति मात्र सैद्धान्तिक नहीं है बल्कि वास्तविक है। इस सत्य पर दृढ़ विश्वास सुख-लालसा के उन्नयन के लिये आवश्यक है।

यदि आवश्यक ही है तो विषयानन्द खोजो, पर इस प्रकार कि जिससे वह भजनानन्द की प्राप्ति में बाधक न हो जाय। विवेक के अभ्यास के द्वारा यह कार्य सध सकता है। विषयानन्द का भोग करते समय विवेक से काम लो। श्रीकृष्ण गीता † में हमें सिखाते हैं तथा अनुभव भी यह बताता है कि समस्त स्पर्शजन्य सुख दुःख को जन्म देता है। विषयानन्द का उपभोग करते समय इसका स्मरण रखना भी विवेक के अभ्यास को दृढ़ करेगा। तब मनुष्य के लिये नैतिक नियमों की सीमा के भीतर रहकर विषयानन्द का भोग करना सहज होगा। यह सीमा इसलिये निर्धारित की गयी है कि मनुष्य सर्वोच्च आनन्द के भोग के लिये अपने को बचाकर रख सके। इसके साथ साथ वह ऐसी उपयुक्त साधना-प्रणाली में अपने को लगाये रखे जो भजनानन्द के अनुकूल हो। ज्यों ज्यों उसका मन अधिकाधिक पवित्र होता जायगा, त्यों त्यों विषयानन्द में उसकी रुचि कम होती जायगी और भजनानन्द में उसकी प्रवृत्ति उसी अनुपात में बढ़ जायगी।

अन्त में उसके जीवन में एक दिन ऐसा आयेगा जब

---

† ५।२२

भजनानन्द भी उसे फीका मालूम पड़ने लगगा और उसे त्यागकर वह परमात्मा का ही खोजी बन जायगा। ईश्वर की खोज से मिलने वाले लाभ की खोज करना एक बात है, और ईश्वर की स्वयं उन्हीं को पाने की इच्छा से खोज करना बिलकुल भिन्न बात है, फिर लाभ हो या न हो। जब साधक का भीतरी विकास इतना हो जाय कि वह परमात्मा को केवल उन्हीं को पाने के उद्देश्य से खोजे, जब ईश्वर की खोज के पीछे उसका तनिक भी दूसरा उद्देश्य न हो, तब उसकी सुख-भोग की लालसा का उदात्तीकरण हो जाता है और इससे उसके पूर्ण मनोनिग्रह में सहायता मिलती है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं---

विषयानन्द का आकर्षण कब खत्म होता है ? जब मनुष्य ईश्वर में समस्त सुख और आनन्द की चरम सीमा देखता है। ईश्वर अखण्ड, नित्य आनन्द के सागर हैं। जो उनके आनन्द का उपभोग करते हैं उन्हें संसार के इन व्यर्थ के सुखों में कोई आकर्षण नहीं मालूम पड़ता।

जिसने एक बार मिश्री की डली चख ली है, उसे मैली राब में भला कौन सा सुख मिल सकता है ? जो राजमहल में सो चुका है, उसे गन्दी झुग्गी में सोने में क्या आनन्द मिलेगा ? जिसने एक बार दिव्यानन्द का रसास्वादन कर लिया है, उसे संसार के तुच्छ विषय-भोगों में कोई रस नहीं मिलता। †

बहुत से लगनशील साधक, मार्गदर्शन के अभाव में,

† Sayings of Sri Ramakrishna, श्रीरामकृष्ण मठ, मद्रास, १९६०, Sayings २४४-५।

अपनी सुख-भोग की लालसा से गलत ढंग से संघर्ष करने लगते हैं। अपनी तत्परता में वे अपनी हानि करने में भी नहीं हिचकते। परन्तु ऐसा प्रयास व्यर्थ है; क्योंकि भले ही वे अपनी लगन में सच्चे हों किन्तु अन्त में उनकी हार हो जाती है। अतएव यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि हम अपने आन्तरिक जीवन की इस सुख-लालसा की समस्या से जूझते समय उपर्युक्त अन्धकूप से बचें। श्रीरामकृष्ण देव बचने का एक रास्ता बताते हैं। जब उनसे पूछा गया कि काम, क्रोध आदि रूपी षड्रिपुओं से छुटकारा कब मिलेगा, उन्होंने उत्तर दिया--

जब तक इन वासनाओं की दिशा संसार और उसके विषयों की ओर होती है, तब तक वे शत्रु के समान वर्तन करती हैं। परन्तु जब उनको ईश्वर की ओर मोड़ दिया जाता है, तो वे मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ मित्र बन जाती हैं, क्योंकि वे उसे ईश्वर की ओर ले जाती हैं। सांसारिक विषयों की कामना को ईश्वर को पाने की कामना में बदल देना चाहिये। मनुष्य दूसरों के प्रति क्रोध का जो भाव पोषित करता है, उसे ईश्वर की ओर यह कहकर मोड़ना चाहिये कि प्रभो! तुमने दर्शन नहीं दिये। अन्य वासनाओं के साथ भी इसी तरह से पेश आना चाहिये। ये वासनाएँ समाप्त नहीं की जा सकतीं, पर इनको संस्कारित किया जा सकता है। †

श्रीरामकृष्ण देव का अपने इस कथन से कि 'वासनाएँ समाप्त नहीं की जा सकतीं, पर इनको संस्कारित किया जा सकता है', यह तात्पर्य रहा होगा कि वासनाओं को नष्ट नहीं किया जा सकता, किन्तु उन्हें एक

† वही, Sayings ४२६।

दिशा में बाँधकर पवित्र किया जा सकता है। यदि हम अपनी वासनाओं को निम्न चीजों में लगायें तो हम निम्न स्तर पर रहते हैं; उन्हें उच्चतर लक्ष्यों में नियुक्त करने से हम ऊपर उठ आते हैं। यदि हम उन्हें परमात्मा से युक्त कर दें तो उनकी नियोजक-शक्ति के द्वारा हम परमात्मा तक उठ आते हैं और दूसरी ओर ये वासनाएँ संस्कारित और पवित्र हो जाती हैं तथा सामान्य अर्थ में ये फिर वासनाएँ नहीं रह जातीं। जब साधक अनुभव के द्वारा यह जान लेता है कि वह आत्मा है और देह-मन का समवाय नहीं, तो वासनाएँ शान्त हो जाती हैं, क्योंकि गलत दिशा में जाने वाली कामना ही वासना है। दूसरे शब्दों में, हम कामना को जैसी दिशा प्रदान करते हैं, उसके अनुरूप वह हमारी मित्र या शत्रु बन जाती है। जब कामना नित्य को अपना लक्ष्य बनाती है, तो वह मुक्ति और आनन्द का साधन बन जाती है। पर जब वह अनित्य की ओर जाती है, तो उससे बन्धन और दुःख ही हाथ लगता है।

वेदान्त मनुष्य की इस सुखैषणा का मूल उसके दार्शनिक स्वरूप में देखता है। मनुष्य वस्तुतः आनन्दस्वरूप ही है। तैत्तिरीय उपनिषद् (२।७, ३।६) शिक्षा देता है--

यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः। रसँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति।

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

--'वह जो प्रसिद्ध सुकृत (स्वयं रचा हुआ) है, सो निश्चय रस ही है। इस रस को पाकर पुरुष आनन्दी हो जाता है। यदि हृदयाकाश में स्थित यह आनन्द (आनन्दस्वरूप आत्मा) न होता, तो कौन व्यक्ति अपान-क्रिया करता और कौन प्राणन-क्रिया करता ? यही तो (लोगों को) आनन्दित करता है।'

'आनन्द से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर आनन्द के द्वारा ही जीवित रहते हैं और प्रयाण करते समय आनन्द में ही समा जाते हैं।'

चूँकि मनुष्य की सत्ता का मूल ही आनन्दात्मक है, अतः उसमें सहज रूप से आनन्द के साथ तद्रूप होने की चेष्टा का चलते रहना स्वाभाविक है, किन्तु जब वह अज्ञान में होता है और देह-मन के साथ अपने को एक मानता है, तब वह आनन्द को उसके वास्तविक स्थान--आत्मा-- में न खोजकर अज्ञानवश एक गलत जगह--शरीर और मन में खोजता है। आनन्द को यह जो गलत स्थान पर खोजना है, वह हमारी सुख की लालसा एवं उससे पैदा होनेवाले बन्धन को जन्म देता है।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, आनन्द सुख नहीं है, वह सुख और दुःख दोनों से परे है, उसे शरीर और मन के स्तर पर कभी भी अलग नहीं किया जा सकता।

मनुष्य का मूल स्वभाव ही उसे आनन्द की खोज में प्रेरित करता है। जब वह उसे भौतिक और मानसिक स्तरों पर खोजते खोजते, सीमित वस्तुओं में उसकी खोज करते करते थक जाता है, तब अन्त मे अपनी आत्मा में उसका पता पाता है। यह आत्मा परमात्मा से अभिन्न

होने के कारण तद्वत् असीम ही है।

तब वह छान्दोग्य उपनिषद् के इस मंत्र (७।२३।१) की सत्यता का अनुभव करता है--'भूमैव सुखं नाल्पे सुखमस्ति'---'सुख तो भूमा (असीम) में है, अल्प (सीमित) में सुख नहीं है। इस सत्य के ज्ञान के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य एक न एक दिन यह समझ ले कि आनन्द सुख और दुःख दोनों से भिन्न है एवं उसकी प्राप्ति के लिये उसे अपने मन को वश में करना होगा तथा अपनी सुखैषणा को एक उच्चतर दिशा देनी होगी।

(क्रमशः)

संसार के सभी महापुरुष, साधु और सिद्धपुरुषों ने क्या किया है? उन्होंने एक जन्म में ही, समय को कम करके, उन सब अवस्थाओं का भोग कर लिया है, जिनमें से होते हुए साधारण मानव करोड़ों जन्म में मुक्त होता है। एक जन्म में ही वे अपनी मुक्ति का मार्ग तय कर लेते हैं। वे दूसरी कोई चिन्ता नहीं करते, दूसरी बात के लिए एक निमिषमात्र भी समय नहीं देते। उनका पल भर भी व्यर्थ नहीं जाता। इस प्रकार उनकी मुक्ति का समय घट जाता है। एकाग्रता का यही अर्थ है कि शक्ति-संचय की क्षमता को बढ़ाकर समय को घटा लेना।

-- स्वामी विवेकानन्द

स्वामी सदानन्द

कुमारी अजिता चटर्जी
(प्राध्यापिका, लाहिड़ी महाविद्यालय, चिरमिरी)

उस समय तक हाथरस स्टेशन के स्टेशन मास्टर श्री शरत्चन्द्र गुप्त अविवाहित थे। इतनी अच्छी और पक्की नौकरी के रहते हुए उन्होंने विवाह क्यों नहीं किया था इसका निश्चित उत्तर तो नहीं दिया जा सकता, पर यह सत्य था कि उनके बड़े भाई अपने जमे-जमाये कारबार और धन-सम्पदा से भरपूर परिवार को त्याग-कर संन्यासी बन गये थे। शरत्चन्द्र पर उनका काफी प्रभाव पड़ा था और उनके मन की रुझान भी उसी दिशा में थी जिस ओर संसारत्यागी ऋषियों-मनीषियों की रहा करती है।

शरतचन्द्र का जन्म सन् १८६५ की ६ जनवरी को कलकत्ते के ण दव निवासी श्री यदुनाथ गुप्त के घर हुआ था। यदुन. न्ता कर बड़ी धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे तथा सन् १८ देश में सपरिवार बनारस के समीप जौनपुर में बस गये थे। शरत्चन्द्र के बड़े भाई बड़े कमाऊ थे तथा उन्हें बड़ी प्रतिष्ठा भी मिली थी, पर वे एकाएक घर-बार त्यागकर कहीं चले गये थे। शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त शरत्चन्द्र ने रेल्वे में नौकरी कर ली। हाथरस में तब वे स्टेशन मास्टर थे, जब उन्होंने एक संन्यासी को प्लेटफार्म पर बड़े निश्चिन्त भाव से

बैठे देखा था । ऐसे तो शरत्चन्द्र हजारों भले-बुरे, गरीब-अमीर, सुन्दर-असुन्दर यात्रियों को देखा करते थे, पर प्लेटफार्म पर बैठे इस संन्यासी ने उन्हें जिस प्रकार आकर्षित किया था वैसा पहले सम्भवतः किसी ने नहीं किया था। शरत्चन्द्र इस संन्यासी से उदासीन नहीं रह सके। उन्होंने संन्यासी को अपने घर भोजन के लिये आमन्त्रित किया और जब घर पहुँचकर संन्यासी ने उनसे पूछा, "क्यों भाई ! तुम मुझे क्या खिलाओगे ?", तब शरत्चन्द्र ने फारसी का एक शेर पढ़ा जिसका अर्थ था—"प्रियतम ! जब तुम मेरे घर आये हो तो मैं तुम्हें अपना कलेजा चीरकर खिलाऊँगा ।" फिर शरत्चन्द्र ने इस संन्यासी का विलक्षण सत्कार किया था और अपने जीवन-पुष्प को उनके चरणों में समर्पित कर दिया था ।

प्रथम दृष्टि में ही हाथरस के स्टेशन मास्टर शरत्चन्द्र जिस संन्यासी के अनुगत हो गये थे, वही कालान्तर में स्वामी निवे जिनमें के नाम से सुख्यात हुआ । अदृष्ट संय क्त होता है भाँति स्वामी विवेकानन्द की शरत् से भेंट लेते हैं और उनके दर्शन मात्र से शरत् की समस्त आध्यात्मिकता प्रस्फुटित हो उठी। शरत् ने उन्हें गुरु के रूप में स्वीकार किया और अब वे उन्हें छोड़ना नहीं चाहते थे। इसीलिए एक दिन उन्होंने स्वामीजी से पूछा, "मेरा क्या होगा ? मुझे आप अपने साथ ले चलिये ।" उत्तर में स्वामीजी ने विद्यासागर का यह पद पढ़ा—"विद्या जदि लभिते चाओ,

चाँद मुखे छाइ माखो, नइले एइ बेला पथ देखो।" अर्थात् यदि ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो तो अपने चन्द्रमुख पर भस्म रमा लो, अन्यथा तत्काल अपना रास्ता नापो। शरत् स्वामीजी का यह कथन सुनते ही भागे और दूसरे ही क्षण आकर खड़े हो गये। उनका रूप देखकर स्वामीजी ने हँसते हुए पूछा, "अरे, यह क्या? अपने चेहरे पर राख क्यों पोत ली?" शरत् बोले, "आपने ही तो ऐसा करने के लिए कहा था।"

शरत् ने स्वामीजी के ही साथ अपना शेष जीवन बिताने का निश्चय कर लिया और उन्हें अपने निश्चय से अवगत भी करा दिया। एक दिन उन्हें विचारमग्न देख शरत् ने पूछा, "स्वामीजी! आप किस बात की चिन्ता कर रहे हैं? मैं आपकी आज्ञा का पालन करने के लिए सदैव तत्पर हूँ। मैं आपकी कौन सी सेवा कर सकता हूँ? मुझे आज्ञा दीजिए।" स्वामीजी ने तब शरत् को बताया कि श्रीरामकृष्ण देव ने उन्हें जो कार्य करने के लिये कहा है, वे उसी की चिन्ता कर रहे हैं और यह सोच रहे हैं कि उनके महान् सन्देश को कैसे प्रचारित और प्रसारित किया जाय। इस कार्य में उनका साथ कौन देगा? कुछ क्षण रुककर फिर उन्होंने शरत् से पूछा, "क्या तुम भिक्षापात्र लेकर दर-दर भीख माँग सकते हो?" शरत् ने तत्काल उत्तर दिया, "आज्ञा दीजिए।" और स्वामीजी की आज्ञा मिलते ही शरत् रेलवे के मजदूरों के घरों से भीख माँग लाये और स्वामीजी के चरणों में अर्पित कर

दिया। इससे स्वामीजी को शरत् की आज्ञाकारिता और निरभिमानिता का परिचय मिला।

हाथरस में कुछ दिन रहने के बाद स्वामीजी जब ऋषिकेश जाने लगे तो शरत् ने नौकरी से स्तीफा दे दिया और कपड़ों को रंगाकर स्वामीजी के साथ चलने के लिये तैयार हो गये। स्वामीजी ने उन्हें रोकने की भरसक कोशिश की, पर शरत् मानने वाले नहीं थे, क्योंकि उन्होंने स्वामीजी की सेवा को अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था। निरुपाय होकर स्वामीजी को शरत् को अपने साथ लेना पड़ा। ऋषिकेश के पथ पर उन्होंने शरत् को वैराग्य में दीक्षित कर 'स्वामी सदानन्द' का नाम प्रदान किया।

सहारनपुर से ऋषिकेश जाते समय पर्वतीय पथ से अनभ्यस्त सदानन्द बारबार पिछड़ जाते थे। उन्होंने सोचा कि सम्भवत: जूतों के कारण वे चल नहीं पा रहे हैं। इसलिये उन्होंने जूते निकालकर पोटली में रख लिये। पर खाली पैरों से उनसे और भी नहीं चला जाता था। यह देख स्वामीजी ने उनकी पोटली स्वयं अपने सिर पर ले ली और सदानन्द का हाथ मजबूती से पकड़कर चलने लगे। इस घटना का स्मरण करते ही सदानन्द की आँखों से अश्रु बहने लगते और वे कहा करते, "क्या स्वामीजी यूँ ही मेरे गुरु हो गये? बिना किसी संकोच के वे मेरे जूतों को अपने सिर पर रखकर चले थे। मैं इसका ख्याल न करूँ इसलिये वे मुझे बातों में भुलाये

रखना चाहते थे ऐसा अनुपम था स्वामीजी का प्रेम। मैं तो स्वामीजी की सेवा करने के लिये ही जन्मा हूँ। इसके अतिरिक्त मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।"

स्वामीजी केदार-बदरी के दर्शन करना चाहते थे पर ऋषिकेश पहुँचते ही सदानन्द का स्वास्थ्य बिगड़ गया। इससे स्वामीजी को अपनी इच्छा का दमन करना पड़ा। एक दिन उन्होंने खीजकर सदानन्द से कहा, "गुप्त! मैं देख रहा हूँ कि तू मेरे पैरों की बेड़ी बन गया है, मैं तो सब कुछ छोड़कर अकेला घूम रहा था। पता नहीं तू कहाँ से विपत्ति के समान टपक पड़ा। पर अब मैं यहाँ नहीं रुकूँगा, मैं चला" स्वामीजी ने कम्बल कन्धे पर डाला और कमण्डलु उठाकर लक्ष्मण झूले के पथ पर बढ़ चले। सदानन्द पर मानों वज्र-प्रहार हो गया। वे उस समय भिक्षान्न पका रहे थे। स्वामीजी के जाने के बाद वे वैसे ही बैठ रह गये। तीन-चार घंटे के बाद सहसा स्वामीजी आकर सदानन्द के पीछे खड़े हो गये और बोले, "अरे बड़ी भूख लगी है' कुछ खिलायेगा नहीं? स्वामीजी का कण्ठस्वर सुनते ही सदानन्द का बुझा चेहरा दमक उठा और वे बोले, "खिचड़ी तैयार है बैठिए" स्वामीजी ने पूछा, क्या तू बिना खाये-पीये बैठा है?" तब सदानन्द ने मान भरे स्वर में कहा, "आप जब चले गये तब भला मैं कैसे खाता?" स्वामीजी बोले, देखता हूँ तू "तो सचमुच मेरे पैरों की बेड़ी बन गया है वैसे तो मैं। पहाड़-जंगल पार कर बहुत दूर निकल गया था। फिर तेरी याद आयी।

सोचा तुझे अकेला छोड़ आया हूँ। तू तो नासमझ ठहरा। तू क्या कर बैठेगा इसका कोई ठिकाना नहीं। इसीलिए फिर वापस चला आया। सदानन्द को लेकर स्वामीजी को हाथरस वापस लौटना पड़ा और वहाँ उन्हें चिकित्सा के लिए छोड़कर स्वामीजी वराहनगर मठ चले आये।

स्वस्थ होकर सदानन्द वराहनगर मठ में स्थायी रूप से रहने चले आये। प्रारम्भ में वहाँ की परिस्थितियों और वातावरण से अनभ्यस्त होने के कारण उन्हें कुछ असुविधा हुई। यद्यपि वे बंगाली थे पर उन्हें बंगला भाषा पर अधिकार नहीं था, इसलिये न तो वे दूसरों से बात कर पाते थे और न उनकी बातों को समझते ही थे। स्वामी सारदानन्द उनसे बहुत स्नेह करते थे तथा उन्होंने उन्हें मठ की भावधारा से अवगत कराया था। उनकी प्रेरणा से सदानन्द नानाविध सेवा कार्यों और आध्यात्मिक साधना में तल्लीन हो गये। स्वामी विवेकानन्द भी उन्हें समय-समय पर पत्र लिखकर निर्देश देते रहते थे। गाजीपुर से उन्होंने सदानन्द को पत्र लिखा था— "नियमित जप, ध्यान करना और अपने को दासानुदास जानकर सबकी सेवा करना। तुम जिनके पास हो, मैं उनके दासानुदास और चरणधूलि के बराबर भी नहीं हूँ। यह भाव मन में रखकर सेवा करना। जो भी रामकृष्ण का नाम ले उसे तुम अपना गुरु समझना। स्वामी तो सभी बन सकते हैं, पर दास होना बहुत कठिन है। तुम शशि की बातों पर विशेष रूप से ध्यान देना। तुम इस

बात को निश्चित रूप से जान लो कि गुरुनिष्ठा, अटल-धैर्य और अध्यवसाय के बिना कुछ भी नहीं होगा।"

सदानन्द ने अपने गुरु के आदेशों को अक्षरशः अपने जीवन में उतारा। सन् १८९० ई. में स्वामी अभेदानन्द जब अस्वस्थ होकर ऋषिकेश से काशी चले आये तब सदानन्द उनकी सेवा करने के लिए काशी पहुँचे। उस समय अभेदानन्दजी ने उन्हें वेदान्त पढ़ाया था। ध्यान, भजन और शास्त्र-चर्चा में दोनों प्रायः इतने तन्मय हो जाते कि कभी कभी उन्हें भिक्षा के लिये बाहर जाने की याद ही न रहती। पर ईश्वर-कृपा से वे कभी भूखे नहीं रहे। जून में सदानन्द वराहनगर मठ लौटे और जब सन् १८९१ में वराहनगर मठ आलमबाजार में स्थानान्तरित हुआ, तब वे भी अन्य साधुओं के साथ वहाँ चले आये। आलमबाजार में उनका जीवन अत्यधिक व्यस्त था। ध्यान-साधना के अतिरिक्त उन्हें पानी लाना, बर्तन माँजना, घर साफ करना तथा पूजाघर का भी ध्यान रखना पड़ता था। नानाविध कार्यों में व्यस्त रहने के बावजूद वे सदा-सर्वदा दूसरों की सेवा करने के लिए तत्पर रहा करते थे। उनकी कर्मठता, सेवा-भावना और आत्मबल को देखकर ही स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्णानन्द के साथ उन्हें भी ठाकुर के सन्देश का प्रचार करने मद्रास भेजा था। इसी प्रकार सन् १८९९ में कलकत्ता में प्लेग फैलने पर उन्होंने समस्त सेवा-कार्यों का भार सदानन्द को सौंप दिया था। भगिनी निवेदिता, स्वामी

शिवानन्द, स्वामी आत्मानन्द, और स्वामी नित्यानन्द के साथ उन्होंने ३१ मार्च,१८९९को सेवा-कार्यों का प्रारम्भ किया। स्वामीजी ने इस महामारी के निवारणार्थ जो सन्देश दिया था उसे सदानन्द ने कलकत्ते में घर-घर पहुँचाया था। शहर की गन्दगी को साफ करने के लिये वे बहुधा झाड़ू लेकर जुट जाया करते और जहाँ भंगी भी जाने से कतराते वहाँ वे बिना किसी घृणा के सफाई के लिए पहुँच जाते थे। किसी की रुग्णता का समाचार पाते ही वे उसके पास दौड़ पड़ते और खाना, पीना त्याग कर उसकी तीमारदारी में लगे रहते। इसी भाँति सन् १९०४ में भागलपुर में प्लेग फैलने पर सदानन्दजी ने ही वहाँ रामकृष्ण मिशन के सेवा कार्यों का परिचालन किया था।

सदानन्द में कर्मठता के साथ निर्भयता एवं साहसिकता का अनुपम समन्वय हुआ था। एक बार वे स्वामी विवेकानन्द के साथ खेतड़ी-नरेश के अतिथि थे। स्वामीजी ने देखा कि सदानन्द एक निरंकुश घोड़े को सरपट दौड़ा रहे हैं। खेतड़ी-नरेश और उनके सभासद भयाक्रान्त होकर किसी दुर्घटना की आशंका कर रहे थे, पर सदानन्द पूरे तौर से निर्भय थे। उनके लौटने पर स्वामीजी ने उनकी पीठ ठोकते हुए कहा था, "सदानन्द! तुम ही मेरे मर्द चेले हो!"

स्वामी विवेकानन्द पर अगाध श्रद्धा रखकर सदानन्द ने वैराग्य-जीवन ग्रहण किया था और उनकी श्रद्धा अन्य

लोगों के समक्ष एक आदर्श थी। एक बार स्वामीजी ने अपने भक्तों से पूछा, "यदि तुम मुझसे भी अच्छा कोई साधु देख लो तो क्या तुम मुझे छोड़ दोगे?" अन्य भक्तों नें समवेत स्वर में कहा "नहीं-नहीं, यह तो असम्भव है।" सदानन्द भी तब वहाँ उपस्थित थे। स्वामीजी ने उनसे पूछा" "क्यों सदानन्द बता तेरा क्या मत है!" उन्होंने तत्काल उत्तर दिया "हाँ मैं आपको छोड़ दूँगा...! जिस दिन मैं आपसे भी अधिक महान् किसी व्यक्ति को देखूँगा उसी दिन मैं आपको छोड़ दूँगा। अधिक महान या अधिक अच्छा देखना ही तो छोड़ देना है" सदानन्द की यह उक्ति उनकी अत्युच्च गुरुभक्ति की परिचायक है। वे सदैव स्वामीजी की आज्ञा का पालन करने के लिए तत्पर रहा करते थे। स्वामीजी का प्रत्येक शब्द उनके लिए वेदवाक्य के समान था। 'इसीलिए प्रबुद्ध भारत' ने उनके सम्बन्ध में लिखा था, "स्वामीजी के निमित्त उनके समक्ष कोई भी कार्य कठिन नहीं था, कोई भी कठिनाई अनुल्लंघनीय नहीं थी, कोई भी आज्ञा अपालनीय नहीं थी। अपनी महान् निष्ठा, प्रेमपूर्ण व्यवहार तथा पीड़ितों और असहायों की सेवा में अपने आप को भुला देने के कारण सदानन्द ने अपने सम्पर्क में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के हृदय को जीत लिया था।"

अपार धैर्य, अप्रतिहत कर्मशक्ति तथा सेवाभाव के साथ ही सदानन्दजी में उच्चकोटि की आध्यात्मिकता का विकास हुआ था। एक बार वे एक धमशाला में रात्रि

यापन कर रहे थे। दिन निकलने पर उन्होंने देखा कि एक कोढ़ी उनके पास लेटा हुआ है। पहले तो उनके मन में आशंका जागी और वे दूर हट गये। फिर तत्काल उन्होंने सोचा कि कुष्ठरोगी में भी तो नारायण है और वे कई दिनो तक उसकी सेवा करते रहे। इसी प्रकार एक बार वे एक रोगी की परिचर्या कर रहे थे। एक दिन वह रोगी आग में गिर पड़ा। सदानन्द ने यह देखते ही दौड़कर उसे हृदय से लगा लिया ताकि उसे शीतलता मिल सके। सदानन्द सेवाभाव के उस उच्च सोपान में प्रतिष्ठित हो गये थे जहाँ उन्हें सभी प्राणियों में ईश्वर की जीवन्त उपस्थिति की अनुभूति होती थी।

इसी अपरिमेय निष्ठा और सेवाभाव ने उनके जीवन को अनेकानेक आध्यात्मिक विभूतियों से सम्पन्न किया था। अन्त-अन्त में जब वे रोगशय्या पर पड़े थे, उन्हें असह्य पीड़ा होती थी किन्तु उनके मुख पर पीड़ा का भाव नहीं झलक पाता था। शरीर की दशा को देखकर इस बात का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता था कि उन्हें बड़ी यत्रणा हो रही है। इसीलिए एक दिन जब भगिनी निवेदिता ने उनसे पूछा, "स्वामीजी, आपको तो बड़ी पीड़ा हो रही होगी?" तो उन्होंने कहा, "नहीं सिस्टर, मैंने अपने आपको शरीर से अलग कर लिया है। मैं तो देख रहा हूँ कि शरीर तड़प रहा है।" सदानन्द अपने मन को शरीर से पृथक् कर लेते थे। इसी प्रकार एक बार वे भगिनी निवेदिता और ब्रह्मचारी अमूल्य

(बाद में रामकृष्ण मठ एवं मिशन के अध्यक्ष स्वामी शंकरानन्द) के साथ भुवनेश्वर के समीप खण्डगिरि में थे। बड़े दिन के उद्यापन के निमित्त भगिनी निवेदिता बाइविल का पाठ कर रही थीं। यीशु के अनुपम चरित्र की कथा सुनते-सुनते सदानन्द किसी अज्ञात आनन्द-लोक में चले गये। उनकी वह अलौकिक दशा देख भगिनी निवेदिता ने 'दि मास्टर ऐज आई सा हिम' में लिखा था—"प्रभु हमारे आचार्य देव की इस जीवन्त सत्ता (स्वामी सदानन्द) को, जिसे मृत्यु भी हमसे अलग नहीं कर सकी, हमारे जीवन के अन्तिम दिनों तक सदा-सर्वदा ज्वलन्त और जाग्रत् बनाये रखें!"

सदानन्द ने विभिन्न समयों में विविध छोटे-बड़े सेवा-कार्यों में असाधारण श्रम किया था, पर युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द के तिरोधान के बाद वे टूट-से गये थे। वे कहा करते, "मैंने तो स्वामीजी की सेवा करने के लिये देह-धारण किया था। अब जब स्वामीजी चले गये तब मेरी इस देह की कोई आवश्यकता नहीं है।" इसके बाद उन्होंने कोई बड़ा कार्य हाथ में नहीं लिया। वे जप, ध्यान, यात्रा और स्वामीजी के संस्मरण सुनाने में अधिकाधिक तल्लीन होने लगे। कठोर परिश्रम के परिणामस्वरूप उनका स्वास्थ्य दिनोंदिन गिरता जा रहा था। कुछ दिनों तक वे दमा और बहुमूत्र रोग से पीड़ित होकर बाँकुड़ा जिले के विष्णुपुर में रहे, तत्पश्चात् भगिनी निवेदिता उन्हें कलकत्ता ले आयीं। श्री माँ सारदा भी उन्हें देखने आयी

थीं। उस अवसर पर सदानन्द ने उन्हें साष्टांग प्रणाम कर कहा, "माँ, बाईस साल पहले आपने मुझे जो आशीर्वाद दिया था, उसी के बल पर यह संन्यास-जीवन अच्छी तरह से बीत गया। अब तो जाने का समय आ गया है। मैं नहीं जानता कि उस पार क्या है।" श्री माँ ने सान्त्वना देते हुए कहा, "भय किस बात का है, सदानन्द ? उस पार तो ठाकुर तुम्हें गोद में लेने के लिए बैठे हुए हैं।" पर सदानन्द आकुल हो उठे और अश्रुरुद्ध कण्ठ से उन्होंने कहा, "माँ ! बाईस साल पहले आपने मुझे जिस प्रकार आशीर्वाद दिया था, वैसा ही अब भी दीजिये।" किन्तु माँ चुप रहीं। तब सदानन्द ने बिलखते हुए कहा, "यदि आप उसी प्रकार आशीर्वाद नहीं देंगी तो मैं यहीं इसी क्षण आपके चरणों में प्राणों को त्याग दूँगा।" करुणामयी श्री माँ ने द्रवित होकर सदानन्द के सिर पर चरणों को रखकर आशीर्वाद प्रदान किया। सदानन्द की श्री माँ पर अगाध भक्ति थी। वे कहा करते थे कि श्री माँ को एक बार देखने से ही सब हो जाता है।

इस घटना के बाद सदानन्द बड़े उत्फुल्ल भाव से मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगे। स्वामीजी का अभय-स्वर निरन्तर उनके हृदय में ध्वनित होने लगा था—"संक्षेप में, संन्यास का अर्थ है मृत्यु से प्रेम करना, आत्महत्या नहीं, प्रत्युत मरण को अवश्यम्भावी जानकर स्वयं को सर्वतोभावेन दूसरों के मंगल के लिए उत्सर्गित कर देना।" सदानन्द ने निष्ठापूर्वक अपने गुरु के इस आदेश का जीवनभर

पालन किया था और अब वे श्रीगुरु के चरणों में चिर-विश्राम करने के लिए आतुर हो उठे थे। १८ फरवरी, १९११ को दोपहर तीन बजे उनकी दृष्टि स्वामीजी के चित्र पर स्थिर हो गयी। उन्होंने तीन बार 'स्वामीजी' शब्द का उच्चारण किया और फिर अनन्त काल के लिए उनसे युक्त हो गये।

गीता प्रवचन - १३

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान ।)

अथ व्यवस्थिताम्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ।। २० ।।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

[हे] (महीपते) हे राजन् (अथ) तब (कपिध्वजः) कपि-चिह्नित ध्वजावाले (पाण्डवः) अर्जुन ने (धार्तराष्ट्रान्) धृतराष्ट्र के पुत्रों को (व्यवस्थितान्) व्यवस्थित (दृष्ट्वा) देखकर (शस्त्र-सम्पाते) शस्त्र छूटने की (प्रवृत्ते) तैयारी के समय (धनुः) धनुप (उद्यम्य) उठाकर (तदा उस समय (हृपीकेशं) श्रीकृष्ण से (इदं) एसे (वाक्यं) वचन (आह) कहे ।

"तब हे राजन् ! धृतराष्ट्र-पक्ष के सैनिकों को अविचलित देखकर ठीक शस्त्र छूटने के समय कपिध्वज अर्जुन ने अपना धनुप उठाकर श्रीकृष्ण से यों वचन कहे ।"

दोनों सेनाओं की ओर से शंख फूँक दिये गये, नगाड़े पीटे जा चुके और भेरियाँ बज चुकीं । यह युद्ध प्रारम्भ करने का संकेत है । ऐसे समय अर्जुन अपना धनुप उठाकर कहता है । यह उसकी मनःस्थिति की सूचना देता है और यह ध्वनित करता है कि अर्जुन भी युद्ध के लिए पूरी तरह मानसिक रूप से तैयार है । पाण्डु-पुत्र होने के कारण उसे 'पाण्डव' नाम से सम्बोधित किया गया है ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।। २१ ।।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

(अर्जुनः उवाच) अर्जुन बोला––

(अच्युत) हे अच्युत (उभयोः सेनयोः मध्ये) दोनों सेनाओं के बीच में (मे रथं) मेरा रथ (स्थापय) खड़ा करें (अहम्) मैं (एतान् योद्धुकामान्) इन युद्धेच्छुओं को (अवस्थितान्) खड़े हुए (यावत्) जब तक (निरीक्षे) निरीक्षण कर लूँ (अस्मिन्) इस (रणसमुद्यमे) संग्राम में (कैः सह) किनके साथ (मया) मेरे द्वारा (योद्धव्यम्) युद्ध किया जाना है ।

"अर्जुन बोला––हे अच्युत! कृपया मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर खडा कर दें, जिससे मैं युद्ध की कामना से खड़े इन लोगों को देख लूँ और जान लूँ कि इस युद्ध में मुझे किनके साथ लड़ना है ।"

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

(अत्र) यहाँ (युद्धे) युद्ध में (दुर्बुद्धेः धार्तराष्ट्रस्य) दुर्बुद्धि धृतराष्ट्र-पुत्र के (प्रियचिकीर्षवः) प्रिय करने की इच्छा से (ये) जो (एते) ये लोग (समागताः) इकट्ठे हुए हैं [तान्] [उन] (योत्स्यमानान्) युद्ध करनेवालों को (अहम्) मैं (अवेक्षं) देखना चाहता हूँ ।

"दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में कल्याण चाहनेवाले ये जो राजा लोग यहाँ इकट्ठे हुए हैं, उन युद्ध करनेवालों को मैं देखना चाहता हूँ ।"

इन श्लोकों में अर्जुन की दृढ़ता दर्शनीय है । २२वें और २३वें श्लोकों में एक प्रकार से पुनरुक्ति मालूम होती है । मनुष्य अपनी दृढ़ता को प्रकट करने के लिए पुनरुक्ति किया करता है । जैसे, व्यवहार मे अगर किसी

बात पर जोर देना हो तो हम एकाधिक बार शब्दों में अपनी दृढ़ता प्रकट करते हैं। अगर किसी से लोहा लेना हो तो हम हाथ उठाकर उस भाव की अभिव्यक्ति करते हैं। यहाँ पर अर्जुन धनुष उठाकर मानो अपने युद्ध के संकल्प की ही घोषणा करता है। साथ ही दो बार यह भी कहता है कि जो हमसे युद्ध करना चाहते हैं, उन्हें हम देख लेना चाहते हैं।

अर्जुन के इस देख लेना चाहने के पीछे कई कारण हो सकते हैं। एक व्याख्याकार ने यह लिखा है कि अर्जुन में अभिमान आ गया था। वह यह सोचने लगा था कि मुझसे बढ़कर योद्धा कोई नहीं है। वह उन भाग्यहीनों को देख लेना चाहता था, जो पतिंगों के समान अर्जुन के शौर्यरूपी दीपशिखा पर मर मिटने के लिए उमड़ना चाहते थे। और भगवान् तो गर्वहारी हैं--'गर्वहारी जनार्दन:'। वे भक्तों के अहंकार का भक्षण करते हैं। अर्जुन का अपने बल का गर्व कुछ क्षण बाद ही मायूसी और बेकली में बदल जाता है। जिसने धनुष उठाकर प्रतिपक्ष से जमकर लोहा लेने की सूचना दी थी, वही धनुष को त्यागकर सिर पर हाथ धर बैठ जाता है।

कुछ दूसरे व्याख्याकार कहते हैं कि अर्जुन के मन में एक प्रकार का भय संचारित हो गया, इसलिए वह कौरवों की सेना को देख लेना चाहता है। जब पाण्डवों की ओर से कौरवों की युद्ध-चुनौती के उत्तर में शंख और बिगुल आदि फूँके गये, तो जो तुमुलनाद हुआ

उसने भले ही कौरव-सेना के हृदय को विदीर्ण कर दिया हो, पर वह तुमुलनाद उनको विचलित नहीं कर सका। तभी तो बीसवें श्लोक में कहा––'अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्'–'धृतराष्ट्र-पक्ष के सैनिकों को अविचलित देखकर'। अर्जुन कौरव-सेना की इस निश्चलता को देख-कर चकित हो जाता है, और इसीलिए वह एक प्रकार की आशंका से आक्रान्त हो जाता है। सोचता है, देखूँ तो, किसके बल पर कौरव इतने निर्भीक हैं।

तीसरी व्याख्या यह है कि अर्जुन मात्र उत्सुकतावश शत्रु-सेना को देखना चाहता है। कौन कहाँ खड़े हैं इसको वह जान ले। एक चौथी व्याख्या यह भी कहती है कि अर्जुन के मन में बड़ी करुणा उपज गयी। मानो उसका यह भाव हो––कहाँ तुम लोग अपनी जान गँवाने यहाँ चले आये, दुर्योधन के चक्कर में कहाँ पड़ गये!

ये चारों व्याख्याएँ अपने अपने ढंग से सही हैं। हमारे जीवन में भी परीक्षा की ऐसी घड़ियाँ आती हैं, जब हम अहंकार, भय, उत्सुकता या करुणा के शिकार होकर अपने कर्तव्य से डिग जाते हैं। ऐसे समय अधर्म धर्म का बाना पहनकर हमारे सामने खड़ा हो जाता है और हमें रास्ते से बहका ले जाता है।

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥ २४॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ।। २५ ।।

(संजयः उवाच) संजय बोला--

(भारत) हे भारत [धृतराष्ट्र] (गुडाकेशेन) गुडाकेश [अर्जुन] के द्वारा (एवं) इस प्रकार (उक्तः) कहे जाने पर (हृषीकेशः) हृषीकेश ने (उभयोः सेनयोः मध्ये) दोनों सेनाओं के बीच में (भीष्मद्रोणप्रमुखतः) भीष्म और द्रोण के सामने (च) तथा (सर्वेषां) सभी (महीक्षितां) भूपतियों के [सामने] रथोत्तम) सर्वोत्तम रथ को (स्थापयित्वा) स्थापित करके (पार्थ) हे पृथापुत्र अर्जुन (एतान् समवेतान् कुरून) इन समवेत कौरवों का (पश्य) देख (इति) ऐसा (उवाच) कहा ।

"संजय बोला-- हे राजन् ! अर्जुन द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर श्रीकृष्ण ने उस सर्वश्रेष्ठ रथ को दोनों सेनाओ के बीच में, भीष्म, द्रोण एवं सभी राजाओं के सामने ले जाकर खड़ा कर दिया और अर्जुन से कहा--पार्थ ! इन इकट्ठे हुए कौरवों को देख।"

यहाँ अर्जुन के लिये 'गुडाकेश' शब्द का प्रयोग किया गया है। गुडाकेश के दो अर्थ होते हैं। (१) गुडाका + ईश और (२) गुडा + केश। 'गुडाका' का अर्थ है निद्रा या आलस्य और 'गुडा' का तात्पर्य होता है गूढ़ या घने। इस प्रकार एक अर्थ है नींद या आलस्य का स्वामी, अर्थात् वह जिसने नींद और प्रमाद को जीत लिया हो। दूसरा अर्थ है, जिसके केश घने हों।

महाभारत के वनपर्व में (३८।२२-२६) प्रसंग आता है कि अर्जुन ने बड़ी कठोर तपस्या करते हुए निद्रा को जीत लिया था। एक मास तक वे तीन-तीन रात के बाद केवल फलाहार करके रहे। दूसरे मास को उन्होंने पहले

की अपेक्षा दूने-दूने समय पर अर्थात् छः-छः रात के बाद फलाहार करके व्यतीत किया। तीसरा महीना पन्द्रह-पन्द्रह दिन में भोजन करके बिताया। चौथा महीना आने पर पाण्डुनन्दन महाबाहु अर्जुन केवल वायु पीकर रहने लगे। वे दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये बिना किसी सहारे के पैर के अँगूठे के अग्रभाग के बल पर खड़े रहे। इस प्रकार उन्होंने सारा आलस्य और प्रमाद जीत लिया तथा निद्रा उनके वश में हो गयी।

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।। २६ ।।
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

(अथ) तब (पार्थः) पार्थ ने (तत्र) वहाँ (उभयोः) दोनों (अपि) ही (सेनयोः) सेनाओं के [मध्ये] [बीच में] (स्थितान्) स्थित हुए (पितॄन्) ताउओं-चाचाओं को (पितामहान्) पितामहों को (आचार्यान्) आचार्यों को (मातुलान्) मामाओं को (भ्रातॄन्) भाइयों को (पुत्रान्) पुत्रों को [अपने और उनके] (पौत्रान्) पौत्रों को (तथा) एवं (सखीन्) सखाओं को (श्वशुरान्) श्वशुरों को (सुहृदः च एव) और सुहृदों को भी (अपश्यत्) देखा।

"तब पृथापुत्र अर्जुन ने उन दोनों ही सेनाओं में स्थित हुए अपने ताउओं-चाचाओं, पितामहों, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पौत्रों तथा मित्रों, ससुरों और सुहृदों को भी देखा।"

भगवान् श्रीकृष्ण के कहने पर अर्जुन ने दोनों सेनाओं की ओर दृष्टिपात किया। उनकी आँखों में एक विचित्र ही दृश्य उपस्थित हुआ। वे तो यह देखना चाहते थे कि मुझे किन-किनके साथ लड़ना है, पर वहाँ उन्हें अपने ही

सगे-सम्बन्धी दिखायी पड़े। कोई ताऊ हैं, तो कोई चाचा, जैसे कुरुवंश के भूरिश्रवा आदि। पितामह भीष्म तो हैं ही, सोमदत्त के समान पितामह-तुल्य व्यक्ति भी हैं। आचार्यों में द्रोण, कृप आदि हैं। शल्य और शकुनि के समान मामा हैं। धृतराष्ट्र-पुत्र सभी के सभी भाई तो हैं ही, फिर अपने स्वय के भाई हैं। पुत्र के समान दुर्योधन-सुत लक्ष्मण आदि हैं और स्वय के पुत्र अभिमन्यु आदि हैं। पौत्रों में कौरवों के पुत्रों के पुत्र हैं। मित्रों में कृतवर्मा और अश्वत्थामा आदि हैं। द्रुपद आदि ससुर हैं। फिर दोनों ही सेनाओं में ऐसे अनेक राजा हैं जा सुहृद हैं। परस्पर कल्याण चाहनेवालों को सुहृद कहते हैं। इस दर्शन की अर्जुन पर जो प्रतिक्रिया हुई, उसे अगले श्लोकों में व्यक्त करते हैं।

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

(सः) वह (कौन्तेयः) कुन्तीपुत्र (अवस्थितान्) अवस्थित (तान् सर्वान्) उन सभी (बन्धून्) बन्धुओं को (समीक्ष्य) देखकर (परया) अत्यन्त (कृपया आविष्टः) करुणा से आविष्ट हो (विषीदन्) विषाद करता हुआ (इदम्) यों (अब्रवीत्) बोला।

"तब वह कुन्तीपुत्र अर्जुन उन सभी बन्धुओं को समरांगण में देख अत्यन्त करुणाविष्ट हो गया और विषाद करता हुआ यों बोला।"

अभी कुछ क्षण पहले जो अर्जुन युद्ध की बातें कर रहा था, वही अब अत्यन्त करुणा से आविष्ट हो गया है। फलस्वरूप, उसके चित्त में विषाद जन्म लेता है। मोह

की शक्ति ही ऐसी भयंकर है! अर्जुन ने जिन लोगों को अपना स्वजन-सम्बन्धी बतलाया, वे लोग कृष्ण के भी तो आत्मीय-स्वजन थे। पर कृष्ण ने उन्हें उस दृष्टि से नहीं देखा। उन्होंने मात्र दो सेनाओं को आमने-सामने खड़ी देखा। वास्तव में, कृष्ण ही मध्य में खड़े थे और भले ही उनका रथ मध्य में खड़ा हो, पर अर्जुन इस समय मध्यस्थ नहीं था। वह मोहस्थ था। वह कृष्ण से रथ को मध्य में ले जाने को तो कहता है, पर बीच में रथ के आ जाने पर भी, अर्जुन बीच में नहीं आ पाया। कृष्ण का चरित्र दर्शनीय है। वे मामा, काका नहीं देखते। यदि खेल के मैदान में खिलाड़ी एक दूसरे के दल में खिलाड़ी को न देखकर अपने स्वजनों को देखता है, तो वह कभी भी ठीक ढग से खेल नहीं पायेगा। खेल के मैदान में खिलाड़ी को देखो, सगे-सम्बन्धियो को नहीं। अदालत में न्यायाधीश अपराधी को देखे, अपने किसी सम्बन्धी को नहीं। और यदि न्यायाधीश कटघरे में खड़े अपराधी को अपराधी के रूप में न देखकर अपने रिश्तेदार के रूप में देखता है, तो वह कभी अपना कर्तव्य ठीक ढंग से नहीं निभा पायेगा।

अर्जुन की स्थिति ऐसी ही हो गयी है। कुछ क्षण पहले ही वह अपराधियों को देखना चाहता था जो दुर्योधन के अधर्म के साथी थे, पर अब उसकी आँखों पर मोह की पट्टी चढ़ गयी है और वह अपराधियों में सगे-सम्बन्धी एवं मित्र-सुहृद देख रहा है। तभी तो करुणावश होकर

विषाद करते हुए वह बोलता है--

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।। २८ ।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुख च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।। २९ ।।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।। ३० ।।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।

(अर्जुनः उवाच) अर्जुन बोला—

(कृष्ण हे कृष्ण (समुपस्थितम् इमं स्वजनं) इन स्वजनों को समुपस्थित (युयुत्सुं) युद्ध करने की इच्छा से दृष्ट्वा) देखकर (मम गात्राणि) मेरे अंग-प्रत्यंग (सीदन्ति) शिथिल हुए जा रहे हैं (मुखं च परिशुष्यति) और मुँह सूखा जा रहा है (च) और (मे शरीरे) मेरे शरीर में (वेपथुः) कम्प (च रोमहर्षः) और रोमांच जायते) उत्पन्न हो रहा है (हस्तात्) हाथ से (गाण्डीवं) गाण्डीव (संस्रते) फिसला जा रहा है (त्वक् च) और त्वचा (एव) भी (परिदह्यते) जल रही है (केशव) हे केशव (अवस्थातुं) खड़े रहने में (च) भी (न शक्नोमि) नहीं समर्थ हूँ (मे मनः) मेरा मन (च) तथा (भ्रमति इव) चक्कर-सा खा रहा है (निमित्तानि च) तथा लक्षणों [शकुनों] को (विपरीतानि) विपरीत (पश्यामि) देख रहा हूँ।

"अर्जुन बोला--हे कृष्ण ! इन स्वजनों को युद्ध करने की इच्छा से यहाँ समपस्थित देखकर मेरे अंग-प्रत्यंग शिथिल हुए जा रहे है और मुँह सूखा जा रहा है। मेरा शरीर काँप रहा है तथा मुझे रोमांच हो रहा है। हाथ से गाण्डीव धनुष फिसला जा रहा है, त्वचा जल रही है। मैं खड़े रहने में भी समर्थ नहीं हूँ। मेरा

मन चक्कर खा रहा है और हे केशव ! मैं चारों ओर अपशकुन ही देख रहा हूँ ।"

अर्जुन के मन में करुणा उपजी और उसका प्रतिफल शारीरिक विकारों के रूप में हुआ । भय और शोक की शरीर पर प्रतिक्रिया इसी प्रकार हुआ करती है। कोई मनुष्य यदि तीव्र रूप से शोकाकुल हो जाय, तो ये ही शारीरिक लक्षण उसमें प्रकट हुआ करते हैं । जैसे, किसी का लाड़ला बेटा अकाल काल-कवलित हो जाय या किसी की सम्पत्ति अचानक नष्ट हो जाय, तो यदि विवेक का अंकुश न हो तो उससे उत्पन्न शोक का आवेग शरीर में इसी प्रकार प्रकट हुआ करता है। करुणा मनुष्य की सहानुभूति को जाग्रत् करे यह तो ठीक है, पर यदि वह उसके पौरुष को क्षीण करे, उसकी विवेक-शक्ति पर कुठाराघात करे और उसे कुण्ठाओं का शिकार बनाकर रख दे, तो वह करुणा गुण है या दुर्गुण? दो व्यक्ति हैं। किसी दुर्घटनाग्रस्त मित्र को देखने जाते हैं। एक में करुणा का इतना उद्रेक हुआ कि स्वयं मूर्छित होकर गिर पड़ा और थोड़ा होश में आने पर रोने-चिल्लाने लगा। दूसरा अपनी करुणा का प्रदर्शन पहले के समान नहीं करता, बल्कि वह दुर्घटनाग्रस्त मित्र को अस्पताल ले जाता है और उसके समुचित उपचार की व्यवस्था करने में जुट जाता है। दोनों ही मित्र करुणा से आविष्ट होते हैं, पर दोनों में करुणा की प्रतिक्रिया अलग अलग होती है।

अर्जुन की दशा पहले मित्र के समान है। ऐसा स्थिति अनावश्यक ही नहीं, अवांछनीय है। इस प्रकार की करुणा विवेक की उपज न होकर अविवेक से उपजी होती है। और जहाँ मनुष्य का विवेक ढक जाता है, वहाँ मोह और भ्रम अपना मायाजाल फैला लेते हैं। तब मनुष्य सब कुछ उल्टा देखने लगता है। जैसे पीलिया का रोगी सब कुछ पीला ही देखता है, उसी प्रकार भ्रम में घिरा पुरुष सारी बातें उल्टी देखता है। उसे धर्म अधर्म मालूम पड़ता है, और अधर्म ही धर्म। अर्जुन तो सेनाओं के बीच में गया था शत्रुओं को देखने, और उसने देखा 'स्वजनों' को। कहता है—'दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण'। उससे पूछा जाता—क्यों भाई तुम तो गये थे दुर्बुद्धि दुर्योधन-हितैषियों को देखने के लिए, यह 'स्वजन' कहाँ से पकड़ लाये ? तो उसने प्रश्नकर्ता को अवश्य 'हृदयहीन' की संज्ञा दे दी होती।

मोह की भयंकरता ही ऐसी है। 'स्व' और 'पर' के भेद को लेकर यह मोह की धारा बहती है। मानो मोह-नदी के ये दो कूल हैं। मुझे एक समाजसेवी महिला की बात मालूम है जो अपने सार्वजनिक भाषणों में, विशेषकर माताओं से, अनुरोध किया करतीं कि वे देश की रक्षा के लिए अपने पुत्रों को फौज में भेजें। वे अच्छे ढंग से अपनी बात को उन लोगों के सामने रखतीं और देश-भक्ति पर प्रेरणापूर्ण व्याख्यान देतीं। किन्तु जब उनका स्वयं का पुत्र फौज में चला गया, तो वे बड़ी मायूस हो

गयी'। इसे 'स्व' और 'पर' का भेद कहते हैं। मोह का आधार भी यही भेद है। अर्जुन में 'स्व' और 'पर' का भाव आ गया है। यह भेद ही संसार की रचना करता है। यह काल्पनिक है। पंचदशी में द्वैत-विवेक-प्रकरण में हम दो प्रकार के द्वैत की बात पढ़ते हैं--दो प्रकार के भेदभाव की बात। एक तो ईश्वर का रचा हुआ और दूसरा जीव द्वारा बनाया हुआ। ईश्वर ने एक नारी की रचना की; किन्तु उसमें माता, पत्नी, सखी, भगिनी, पुत्री आदि के विभिन्न भाव जीव ने बना लिये। वस्तुतः जीव यह जो द्वैत बना लेता है, उसी को दूर करना है। पुष्टि-मार्ग में इन्हीं दोनों को प्रपंच और संसार के नाम से पुकारा गया है। प्रपंच की रचना ईश्वर ने की है, जबकि संसार जीव का अपना बनाया हुआ है। अतएव यही सिद्ध हुआ कि 'स्व' और 'पर' का भेद कल्पित है तथा उसको दूर करना ही गीतोपदेश का प्रयोजन है।

एक अन्य दृष्टि से देखें तो अर्जुन 'न्यूरोसिस' का शिकार हो जाता है। उपर्युक्त श्लोकों में अर्जुन ने अपने जो लक्षण बतलाये हैं, वे सभी न्यूरोसिस के रोगी पर घटते हैं। इस रोग का शिकार व्यक्ति परीक्षा की घड़ियों में अपना सन्तुलन खो बैठता है और उसमें ये सारे लक्षण उभर आते हैं। मैंने कई छात्रों और छात्राओं को देखा है, जो परीक्षा-भवन में प्रश्नपत्र को देखते ही अचानक इस रोग से आक्रान्त हो जाते हैं। उनमें थरथराहट छूटती है, रोएँ खड़े हो जाते हैं, सिर चक्कर खाने

लगता है, हथेली पसीने से भीग जाती है और हाथ में पकड़ी कलम छूट जाती है। मुँह सूखने लगता है। ये सब मानसिक दुर्बलता के लक्षण हैं। पूछा जा सकता है कि अर्जुन तो इतना शूरवीर था, उसमें मानसिक दुर्बलता कहाँ से आयी ? तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि बारह वर्ष के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास ने अर्जुन में ऐसी दुर्बलता ला दी। कहते हैं कि न्यूरोसिस का भावनाओं से बड़ा सम्बन्ध है। जब मनुष्य की भावनाओं को बलपूर्वक दबा दिया जाता है और उन्हें प्रकट होने की छूट नहीं दी जाती, तब बलात् दबायी गयी ये भावनाएँ मानसिक कुण्ठा का रूप धारण कर लेती हैं और ऐसी ही कुण्ठाओं से न्यूरोसिस का जन्म होता है।

अर्जुन की भावनाएँ तो हरदम ही दबायी गयीं। वैसे तो पाँचों पाण्डवों की भावनाओं को सदैव दबाया जाता रहा, पर सबसे अधिक प्रतिक्रिया अर्जुन पर हुई, क्योंकि पाँचों भाइयों में वही सबसे प्रतिभाशाली था। प्रतिभाशाली व्यक्ति सूक्ष्म संवेदनाओं से युक्त होने के कारण अधिक संवेदनशील होता है। छोटीसी बात भी उस पर अपनी पर्याप्त प्रतिक्रिया छोड़ जाती है। फिर अर्जुन के सम्बन्ध में क्या कहना ! ऐसा अर्जुन अपने भाइयों के साथ कौरवों के द्वारा पग-पग पर अपमानित होता है, पर युधिष्ठिर के कारण वह प्रतिकार में अपना मुँह खोल नहीं पाता। आँखों के सामने उसने द्रौपदी को अपमानित होते हुए देखा, पर अधरों पर

प्रतिवाद में एक शब्द तक न फूटा। भीम ने अपने रोष को व्यक्त कर कुछ अंशों में कुण्ठा की मात्रा को कम कर लिया, उसने दुर्योधन की जाँघ तोड़ने की प्रतिज्ञा कर ली, दुःशासन की छाती फाड़ उसका रक्त पीने की घोषणा कर दी; पर अर्जुन सिर झुकाये ही बैठा रहा। बारह वर्ष के वनवास में जाने कितनी बार उसे मन मार-कर चुप रह जाना पड़ा, और यह सब युधिष्ठिर की इच्छा की पूर्ति के लिए। द्रौपदी का हरण करनेवाले जयद्रथ को उसने पकड़ा तो सही, पर युधिष्ठिर ने अपनी दयालुता प्रदर्शित करते हुए बिना कोई दण्ड दिये जयद्रथ को छुड़वा दिया। ये सब ऐसे कारण थे, जिनके फलस्वरूप अर्जुन की प्रतिभा दबने लगी और वह उत्त-रोत्तर कुण्ठा का शिकार होने लगा। बारह वर्षों में उसकी भावनाएँ इतनी दबायी गयीं कि अन्त का तेरहवाँ वर्ष उसके लिये पौरुष की दृष्टि से घातक बन गया—वह नपुंसक बन गया। आप भले ही यह कहकर इस सन्दर्भ को समझाने की कोशिश करें कि अर्जुन तो उर्वशी के शाप से इस प्रकार नपुंसक बना था, पर यह कोई तर्क-संगत कारण नहीं प्रतीत होता। उचित तो यही लगता है कि गाण्डीवधारी महारथी अर्जुन बारह वर्ष की मान-सिक खिन्नता के कारण वीर्यहीन हो नपुंसक बन जाता है। वैसे तो एक वर्ष का अज्ञातवास सारे पाण्डवों के लिये ही भीषण दुर्दशा का कारण बनता है, पर अर्जुन के सन्दर्भ में वह दुर्दशा और भी भयावह होती है। जहाँ

उसके अन्य भाई विराट राजा के यहाँ पुरुषोचित कार्यों में नियुक्त होते हैं, वहाँ अर्जुन बृहन्नला बनकर नाचता है और अन्तःपुर में महिलाओं के साथ रहता है। इससे बढ़कर उसके पौरुष की तौहीनी और क्या हो सकती है ? उसकी यह सारी कुण्ठा भयानक आक्रामक रूप धारण कर कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि पर संक्रान्ति के क्षणों में प्रकट हो जाती है।

प्रश्न उठता है कि विराटनगर में भी तो अर्जुन को कौरवों के साथ लड़ने का अवसर मिला था और उसने अकेले ही गायों को हरकर ले जानेवाली कौरव-सेना के छक्के छुड़ा दिये थे। तब तो उसमें किसी प्रकार की दुर्बलता प्रकट नहीं हुई। यह तर्क अवश्य विचारणीय है। पर इसके पीछे मनोवैज्ञानिक रहस्य छिपा पड़ा है। विराटनगर में युद्ध करते समय अर्जुन लोगों के लिये अपरिचित ही था। वह अज्ञातवास में था। कौरव-पक्ष के लोग नहीं जानते थे कि राजकुमार उत्तर के सारथित्व में भयंकर युद्ध करनेवाला रथी महाबली अर्जुन ही है। अतएव अर्जुन के लिये तब हार या जीत की चिन्ता नहीं थी। फिर, यह भी सम्भव है कि विराटनगर में रहते समय अर्जुन अपनी नपुंसकता को दूर करने की दिशा में प्रयत्नशील रहा हो। एक लाभ उसे बृहन्नला के रूप में यह हुआ कि वह युधिष्ठिर से दूर हट गया। युधिष्ठिर की उपस्थिति उसके मन के लिये दमन का कार्य करती थी। इसीलिए

जब जब अर्जुन युधिष्ठिर से दूर रहा है, उसने अपने अतुलनीय शौर्य का प्रदर्शन किया है। इसके उदाहरण महाभारत में भरे पड़े हैं।

तो, हम कह रहे थे कि अर्जुन ने अज्ञातवास का जो एक वर्ष बिताया, उसमें वह युधिष्ठिर से अलग रहा। साथ ही, उसे नारियों की प्रशंसा और सहानुभूति मिली। उत्तरा का उद्दाम प्यार मिला; भले अर्जुन ने उसे उस प्रकार स्वीकार नहीं किया जिस प्रकार पहले उलूपी और चित्रांगदा का प्यार स्वीकार किया था। इसके पीछे क्या कारण रहा होगा, यह सहज अनुमानगम्य है। ये सारी बातें ऐसी थीं, जिनके फलस्वरूप अर्जुन का दबा पौरुष धीरे धीरे जागने लगा और उत्तर की कायरता ने तो उसके पौरुष को पूरी तरह उभाड़ दिया। आजकल युद्ध-बन्दियों को वीर्यहीन करने के लिये इसी प्रकार के तरीके काम में लाये जाते हैं। उनका बाहरी सम्पर्क खत्म कर दिया जाता है, एक ही प्रकार की बातें कानों में हरदम सुनायी जाती हैं, शस्त्रों को छीन लिया जाता है और उनके उपयोग का अवसर नहीं दिया जाता। इसे 'ब्रेन-वाश' के नाम से पुकारते हैं। पाण्डवों का बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास 'ब्रेन-वाश' की ही प्रक्रिया थी, जिसकी चतुराईपूर्ण योजना कुटिल कौरवों ने बनायी थी। पर जैसा ऊपर कहा, अज्ञातवास की अवधि में अर्जुन को युधिष्ठिर से दूर रहने का अवसर प्राप्त होता है और वह अपने खोये पौरुष को प्राप्त

करने में समर्थ होता है।

प्रश्न उठता है कि जब विराटनगर के युद्ध में अर्जुन ने अपने खोये पौरुष को प्राप्त कर लिया तो कुरुक्षेत्र के मैदान में वह क्यों पुन: न्यूरोसिस के 'फिट' का शिकार होता है? इसका सहज उत्तर यह है कि कुरुक्षेत्र का युद्ध योजनाबद्ध युद्ध था, पाण्डवों ने कौरवों के अन्याय को चुनौती दी थी। युद्ध की बृहत् तैयारियाँ की गयी थीं। अर्जुन आज विराटनगर का एक अनजाना और अनचीन्हा व्यक्ति नहीं था, बल्कि वह महापराक्रमी, गाण्डीवधारी पृथापुत्र-गुडाकेश था। विराटनगर में उसे हार-जीत का भय नहीं हुआ था, पर आज कौरवों की विशाल ग्यारह अक्षौहिणी सेना को देख उसके मन में आशंका पैदा होती है--'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयु:'--'हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे'। फिर यह भी एक अजनबी भाव अर्जुन को सताने लगता है कि इतने पूज्यजनों और सम्बन्धियों को मारकर क्या हम पाप के भागी नहीं बनेंगे?

हम पढ़ते हैं कि अर्जुन श्रीकृष्ण को रथ दोनों सेनाओं के मध्य ले चलने के लिये कहता है ताकि वह देख ले कि उसे किन-किन लोगों से लड़ना है। तो क्या अर्जुन यह नहीं जानता था कि उसकी ओर से तथा कौरवों की ओर से कौन-कौन समरांगण में खड़े हैं? वह सब जानता था, पर जिस समय अपनी आँखों से दोनों ओर की सेनाओं को देखता है, तो यह बोध कुछ भिन्न ही होता है। यदि कौरवों की सेना में केवल धृतराष्ट्र-पुत्र, शकुनि और कर्ण

आदि ही होते, तो सम्भवतः अर्जुन इतना करुणाविष्ट न हुआ होता। किन्तु जब आँखों के सामने, कौरवों की ओर खड़े हुए, उन लोगों को देखता है जिन्होंने उसको प्यार दिया और जिनको वह प्यार करता रहा है, तो उसका मानसिक सन्तुलन एकबारगी खत्म हो गया और उसके भीतर का वर्षों का दबा सारा आक्रोश उपर्युक्त शारीरिक लक्षणों के रूप में प्रकट हो जाता है। मोह का मोटा आवरण उसके मनश्चक्षुओं पर पड़ जाता है और वह सब कुछ उल्टा देखने लगता है। अभी तक जो शकुन उसकी दृष्टि में शुभ और अच्छे थे, वे ही उसकी इस बदली मानसिकता में अपशकुन दीखने लगते हैं। जब मन का उत्साह चुक जाता है, तब मनुष्य चारों ओर अँधेरा और खाई ही देखता है।

यहाँ पर एक प्रश्न खड़ा होता है। ऊपर की चर्चा से यह पता चला कि अर्जुन की भावनाएँ दमित हो गयी थीं, उसे अपने विचारों को व्यक्त करने की छूट नहीं मिली थी. इसलिये वह कुण्ठाग्रस्त हो न्यूरोसिस का शिकार हो गया था। इससे यह निष्पन्न हुआ कि अगर कुण्ठा से बचना है तो अपनी भावनाओं को दबाओ मत, उनको खुली छूट दे दो। आज पश्चिमी मनोविज्ञान, विशेषकर वह जो सिग्मंड फ्रायड से प्रभावित है, इसी बात की शिक्षा देता है। वह भावनाओं के दमन को हानिकारक मानता है और कहता है कि आज के लगभग अस्सी प्रतिशत मनुष्य इसलिये मानसिक रोगों के शिकार

हैं कि वे अपनी भावनाओं को दबा देते हैं। ये ही मानसिक रोग शरीर के स्तर पर उतर आते हैं और चिकित्सक केवल शरीर में ही रोग की जड़ को खोजने के कारण रोग का पता नहीं पाता। इसलिये शरीर की चिकित्सा करने मात्र से वे रोग दूर नहीं होते। रोग तो तब दूर होते हैं जब विश्लेषण के द्वारा यह पता लगा लिया जाता है कि रोग का कारण शरीर में नहीं, मन में है और जब यह जानकर मन का इलाज किया जाता है। इसे मनोविज्ञान की भाषा में Psychosomatic चिकित्सा के नाम से पुकारते हैं। Psyche का तात्पर्य मन से है तथा soma का शरीर से। यह बात पश्चिमी देशों को अभी अभी मालूम हुई कि शरीर में प्रतीत होनेवाला रोग मन में अपनी जड़ें रखता है पर भारत में तो इसका पता अत्यन्त प्राचीन काल से था। हमारे यहाँ अति पुरातन काल से 'आधि' और 'व्याधि' शब्द प्रचलित रहे हैं, जो क्रमश: मानसिक और शारीरिक रोगों के लिये प्रयुक्त होते हैं। भारत ने मन के रोगी होने को तथा उसके कारण शरीर के अस्वस्थ हो जाने को बहुत पहले से जाना है। हमारे यहाँ भी यह मान्यता रही है कि भावनाओं के दमन से कुण्ठाएँ उत्पन्न होती हैं। पर इन कुण्ठाओं का निदान हमने भावनाओं को खुली छूट देने में नहीं देखा। बल्कि हमने तो यह देखा कि मन को खुली छूट देने से एक नये प्रकार की कुण्ठा उत्पन्न हो जाती है, जो दमन से पैदा होने वाली कुण्ठा की अपेक्षा

कहीं अधिक खतरनाक है। और फिर प्रश्न यह भी है कि हम मन को कहाँ तक खुली छूट दें? किसी की सम्पत्ति का लालच एक व्यक्ति के मन में समाया। वह मन का दमन करते हुए उस लालच को रोके या उसे खुली छूट देते हुए धन को लूट ले? किसी की सुन्दर पत्नी को देखकर एक व्यक्ति में उसे पाने की वासना जगी। तो यह फ्रायड की दुहाई देता हुआ उस नारी को अपने अधिकार में लेने की कोशिश करे, या समाज के सन्तुलन को बनाये रखने की दृष्टि से अपनी उस पाशविक भावना का दमन करे? इस प्रश्न का पाश्चात्य मनो-विज्ञान क्या उत्तर देगा? फ्रायड इसके उत्तर में क्या कहेंगे? निष्कर्ष यह हुआ कि सभी अवस्थाओं में मन को खुली छूट देना एक बहुत बड़ी कुण्ठा को जन्म देना है, जिसका निदान फ्रायड और उनके अनुयायियों के पास नहीं है। भारतीय मनोविज्ञान भी दमन को हानिकारक मानता है। इसलिये दमन का उपदेश वह भी नहीं देता, बल्कि वह नियमन की शिक्षा देता है। हम दमन के पक्षधर नहीं, बल्कि नियमन को जीवन में स्थान देते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इसी नियमन की शिक्षा दी और मन के इस नियमन को ही हम 'योग' के नाम से पुकारते है। अगली चर्चाओं में हम 'दमन' और 'नियमन' के इस भेद पर और भी विस्तार से विचार करेंगे।

यहाँ पर श्रीभगवान् के लिये 'कृष्ण' और 'केशव'

इन दो नामों का प्रयोग हुआ है। 'कृष्ण' के कई अर्थ किये जाते हैं। एक तो श्यामल वर्ण। दूसरे कृष् धातु का अर्थ है खींचना, तो जो अपनी ओर खींचे वह कृष्ण। अथवा, जो भक्तों के दुःख-क्लेश दूर खींच दे वह कृष्ण। इसी प्रकार, 'केशव' का एक अर्थ तो है 'केशी' नामक दैत्य का संहारक। दूसरा अर्थ है, जिसके केश घने और सुन्दर हों।

(क्रमशः)

✤

क्या भारत मर जायगा? तब तो संसार से सारी आध्यात्मिकता का समूल नाश हो जायगा, सारे सदाचारपूर्ण आदर्श जीवन का विनाश हो जायगा, धर्मों के प्रति सारी मधुर सहानुभूति नष्ट हो जायगी, सारे ध्येयवाद का भी लोप हो जायगा। और उसके स्थान में कामरूपी देवता और विलासितारूपी देवी राज्य करेगी। धन उनका पुरोहित होगा। प्रतारणा, पाशविक बल और प्रतिद्वन्द्विता, ये ही उनकी पूजा-पद्धति होगी और मानव आत्मा उनकी बलि सामग्री हो जायगी। ऐसी दुर्घटना कभी हो नहीं सकती। ...क्या वह कभी मर जायगा? वह भारत जो प्राचीनकाल से सभी उदात्तता, नीति और आध्यात्मिकता का जन्म स्थान रहा है, वह देश जिसमें ऋषि गण विचरण करते रहे हैं, जिस भूमि में देवतुल्य मनुष्य अभी भी जीवित और जाग्रत हैं, क्या मर जायगा? भाइयो! मैं उस यूनानी ऋषि डायोजीनिस की लालटेन को उधार लेकर आपके पीछे पीछे इस विशाल संसार के शहरों, ग्रामों, मैदानों और जंगलों को चलूँगा– मुझे अगर आप दिखा सकते हों तो ऐसे पुरुष दूसरे देशों में भी दिखा दीजिये।

—स्वामी विवेकानन्द

भगवान् सगुण-साकार हैं या निर्गुण-निराकार

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम में प्रदत्त प्रवचन का एक अंश)

भगवान् का स्वरूप निर्गुण है अथवा सगुण, निराकार है अथवा साकार, यह बड़ा पुराना और विवादग्रस्त प्रश्न रहा है। कुछ लोग मानते हैं कि भगवान् का स्वरूप निर्गुण-निराकार है, उनकी कोई आकृति नहीं, कोई नाम नहीं और न कोई रूप ही है। तथा कुछ लोगों की मान्यता यह है कि भगवान् का रूप है, वे अवतार लेते हैं। वे सगुण तथा साकार हैं। गोस्वामीजी के रामचरितमानस की मान्यता क्या है ? वे भगवान् को निर्गुण-निराकार मानते हैं अथवा सगुण-साकार ? बहुत से लोग जो रामचरितमानस को गम्भीरता से नहीं पढ़ते तथा जिनके मन में कुछ पूर्वाग्रह होता है, वे ऐसा मानकर चलते हैं कि गोस्वामीजी सगुण साकारवादी हैं। लेकिन यह यथार्थ नहीं है। गोस्वामीजी कोई वादी नहीं हैं। वादी तो वह होता है जो एक पक्ष को स्वीकार कर दूसरे पक्ष का खण्डन करता है। गोस्वामीजी से जब यह प्रश्न किया गया कि आप निर्गुण-निराकारवादी हैं अथवा साकारवादी ? तो उन्होंने दोहावली रामायण में इसका सुन्दर उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि मै तो दोनों को स्वीकार करता हूँ और मैने दोनों को दो स्थान दे रखे

हैं। वे दो स्थान कौन–कौन से हैं? दोहावली रामायण में वे लिखते हैं––

हिय निरगुन नैननि सगुन।

हृदय में मेरे निर्गुण-निराकार ब्रह्म है और नेत्रों में सगुण-साकार और इतने में ही गोस्वामीजी ज्ञान और भक्ति दोनों की व्याख्या कर देते हैं। साथ ही वे एक बात और जोड़ देते है कि इन दोनों की अपेक्षा मैं नाम को अधिक महत्त्व देता हूँ। इस दोहे में उन्होंने यह बताया कि जैसे किसी के पास कोई मूल्यवान् रत्न हो तो उसे रखने के लिए एक मंजूषा चाहिए, इसी प्रकार जिह्वा पर जो राम-नाम है वह तो है रत्न और निर्गुण-सगुण उसके लिये मंजूषा की तरह है।

हिय निरगुन नैननि सगुन, रसना राम सुनाम।
मनहु कुरट संपुट लसत, तुलसी ललित ललाम।।

गोस्वामीजी ने कहा कि हृदय में निर्गुण-निराकार, नेत्रों में सगुण-साकार और जिह्वा पर राम-नाम उसी प्रकार शोभित हो रहा है, जैसे सोने के डिब्बे में दिव्य रत्न रखा हो। इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी का कोई वाद नहीं है। गोस्वामीजी का तात्पर्य बड़ा सरल है। ज्ञान से उनका तात्पर्य है––ईश्वर जैसा है, उसे वैसा जानना और भक्ति का तात्पर्य है––जैसे हम ईश्वर को चाहते हैं, उसे वैसा देखना। एक तो ईश्वर का वास्तविक रूप हुआ और दूसरा वह रूप है जिसमें हम उस ईश्वर को चाहते हैं। भक्त की आकांक्षा यह रहती है कि प्रभो, आप चाहे

जैसे भी हों पर कृपा करके मुझे इस रूप मे दर्शन दीजिए। और भगवान् उसकी इच्छा को स्वीकार कर आकृति ग्रहण कर लेते हैं। अतः गोस्वामीजी का अभिप्राय यह है कि ईश्वर निर्गुण-निराकार भी हैं और सगुण-साकार भी, तथा दोनों ही रूपों में वे जीव के जीवन को धन्य बनाते हैं। यदि ब्रह्म को निर्गुण-निराकार स्वीकार करें तो नेत्रों को मूँदकर अपने अन्तरंग हृदय में उनका दर्शन करना होगा। इसका अभिप्राय यह नहीं कि जब नेत्रों को मूँदगे तो ईश्वर के समीप रहेंगे और खोल देंगे तो ईश्वर से दूर चले जायेंगे। ईश्वर चाहे सगुण-साकार हों अथवा निर्गुण-निराकार, नेत्रों को मूँदने से वे ही दिखाई देंगे और खोलने से भी उन्हींका दर्शन होगा। जो यह कहते हैं कि ईश्वर केवल नेत्र मूँदने से दिखाई देंगे अथवा जिनका कहना है कि वे केवल बाहर दिखाई देते हैं, वे दोनों ही आग्रही हैं। गोस्वामीजी दोनों को स्वीकार करते हैं——जैसा कि मनु की प्रार्थना में दिखाई देता है। मनु भगवान् से प्रार्थना करते हुए कहते हैं——

अगुन अखड अनन्त अनादी। जेहि चिन्तहि परमारथवादी ॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा ॥
ऐसेउ प्रभु सेबक बस अहई। भगत हेतु लीलातनु गहई ॥
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा ॥

मनु कहते हैं– प्रभो, मैं जानता हूँ कि वेदों ने आपका प्रतिपादन निर्गुण, निराकार, अज, अव्यक्त, नामरूपरहित ब्रह्म के रूप में किया है, पर मैं इस सत्य

को भी जानता हूँ कि ऐसा ब्रह्म भी सेवक की आकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिए लीलातनु ग्रहण करता है। इसलिए आप कृपा करके दर्शन दीजिए। इसका तात्पर्य यह कि गोस्वामीजी ने भगवान् राम को दोनों दृष्टियों से स्वीकार किया। उन्होंने भगवान् को देखा और उन्हें निर्गुण से सगण रूप में अभिव्यक्त करके, प्रत्यक्ष जीवन में प्राप्त करके, उस ब्रह्म को जिसे लोग एकांकी दृष्टि से अधूरा कहकर मानते रहे हैं, गोस्वामीजी ने पूर्ण बना दिया। मनु के प्रसंग में एक बड़े महत्त्व की बात आती है। मनु को ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों के दर्शन होते हैं। वे तीनों दर्शन देकर कहते हैं—- तुम्हें जो वर चाहिए, माँग लो। लेकिन सबके अनुरोध किये जाने पर भी मनु कुछ नहीं माँगते। अन्त में जब भगवान् उन पर प्रसन्न होते हैं, तब आकाशवाणी होती है और भगवान् का आविर्भाव मनु के सामने होता है। इन दोनों दर्शनों में एक अन्तर है। पहले ब्रह्मा, विष्णु और शिव सामने आते हैं, और मनु से कहते हैं– वरदान माँगो। इसका अभिशाप यह है कि यहाँ रूप पहले है और शब्द बाद में। लेकिन जब भगवान् प्रसन्न होते हैं तो मनु को आकाशवाणी द्वारा वरदान पहले मिलता है और दर्शन बाद में। आकाशवाणी होती है–

मागु मागु बरु भै नभ बानी।

यहाँ पहले ध्वनि उच्चरित हुई और फिर रूप

सामने आया। ऐसा क्यों? इन दोनों में ज्यादा सुसंगत कौन सा? जब मनु ने भगवान् के मंत्र का जाप किया तो ब्रह्म में शब्द का प्रादुर्भाव हुआ। और शब्द का प्रादुर्भाव होने से आकाशवाणी हुई कि वरदान माँगो। मनु ने कहा कि हम तो आपके रूप का दर्शन चाहते हैं। भगवान् ने कहा कि रूप तो मेरे पास है ही नहीं। यह तो तुम बताओ कि मैं तुम्हें किस रूप में दर्शन दूँ। तब मनु ने कहा--

जो सरूप बस शिव मन माहीं।
जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥
जो भुसुंडि मन मानस हंसा।
सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन।
कृपा करहु प्रनतारति मोचन॥

गोस्वामी लिखते हैं कि जब मनु ने यह प्रार्थना की तो भगवान् सामने आये। कहाँ से आये? किस नभ से आये? क्षीर सागर से आये कि बैकुण्ठ से आये अथवा साकार सापेक्ष से आये? गोस्वामीजी ने एक वाक्य में कह दिया--

भगत बछल प्रभु कृपा निधाना।
बिस्वबास प्रकटे भगवाना॥

--भगवान् तो वहीं थे। वे आते कहाँ से? सर्व-व्यापक रूप से तो वे वहाँ विद्यमान ही थे। लेकिन जब मनु ने कहा कि हम आकृति में आपको देखना चाहते हैं

तब वे सामने आकर खड़े हो गये। अतः जब भगवान् सगुण-साकार रूप में प्रकट होते हैं तब उनका कोई एक रूप नहीं होता। किसी ने लिखा है न--

मीन कमठ सूकर नरहरि।
वामन परसुराम बसु धरि।।

--वे आते हैं कभी मछली के रूप मे, कभी कछुए और वराह के रूप में, कभी नृसिंह के रूप में तो कभी राम और कृष्ण के रूप में, कभी वामन तो कभी विष्णु रूप में। इसका तात्पर्य क्या? भक्त भगवान् को अपने जीवन में जिस रूप में पाना चाहते है भगवान् उसकी आकांक्षा को पूर्ण करने के लिए वैसा रूप धारण करके आते हैं और उसके जीवन को धन्य बना देते हैं। ऐसे कई लोगों के मन में जो वाल्मीकि रामायण पढ़कर रामचरितमानस पढ़ते है, यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वाल्मीकि रामायण में भगवान् राम का चरित्र भिन्न प्रकार का है और गोस्वामीजी अलग प्रकार से वर्णन करते हैं। कुछ लोग तो यह कह देते हैं कि वाल्मीकि ने जो कुछ लिखा है वह इतिहास है वही सत्य है और गोस्वामीजी ने जो लिखा है वह कल्पना है। बाहरी रूप से अध्ययन करने वालों की बुद्धि का यह एक छोटा सा नमूना है। वे यह समझ ही नहीं पाते कि वाल्मीकि जी ने जो लिखा है वह भी यथार्थ है और जो गोस्वामी जी लिखते हैं वह भी यथार्थ है। गोस्वामीजी ने इस बात को बड़े सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया है--

भगवान् राम लंका-विजय के बाद अयोध्या आते हैं और जब पुष्पक विमान से उतरते हैं तो अयोध्या के के समस्त नागरिक उनके दर्शन के लिए एकत्रित रहते हैं। इतनी भीड़ में यह स्वाभाविक है कि कुछ व्यक्ति भगवान् राम के अत्यन्त समीप हैं और कुछ बहुत दूर। भगवान् राम अगर मिलना चाहें तो दो-चार व्यक्तियों से मिल सकते हैं। पर दर्शक केवल उनका दर्शन ही नहीं चाहते किन्तु अत्यन्त सन्निकट रूप से उनसे मिलना चाहते हैं। जहाँ लाखों व्यक्ति खड़े हो वहाँ इसका समाधान कैसे हो ? गोस्वामीजी इसका सुन्दर समाधान प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं, अगर राम मनुष्य होते तब तो एक रूप में वे कुछ व्यक्ति से ही मिल पाते और बांकी लोगों को उन्हें दूर से ही देखकर सन्तोष करना पड़ता। पर वे मनुष्य तो थे नहीं। जिस समय उन्होंने देखा कि प्रत्येक नागरिक के मन में मुझसे मिलने की आकांक्षा है, उन्होंने एक कौतुक किया। गोस्वामीजी लिखते हैं--

> प्रेमातुर सब लोग निहारी।
> कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी।।
> अमित रूप प्रगटे तेहि काला।
> जथा जोग मिले सबहिं कृपाला।।

जितने अयोध्या के नागरिक थे, उतने ही भगवान् राम हो गये। यही सगुण-साकार लीला का आनन्द है। भगवान् एक कि अनेक? भगवान् एक भी और भगवान्

अनेक भी। भगवान् के एक होते हुए भी जब तक प्रत्येक व्यक्ति को एक-एक भगवान् न मिल जाय, उस एक सार्वजनिक भगवान् से काम नहीं चलेगा। प्रत्येक व्यक्ति को एक-एक भगवान् की आवश्यकता है। इसलिए गोस्वामीजी ने कहा कि अयोध्या के जितने नागरिक हैं भगवान् राम उतने रूपों में विद्यमान हैं। जो भगवान् राम से छोटे हैं, वे लोग उनके चरणों में प्रणाम कर रहे हैं। छोटा बालक उन्हें प्रणाम करके बड़ा प्रसन्न हो रहा है कि प्रभु मुझसे कितना प्रेम करते हैं जो विमान से उतरकर सबसे पहले मुझे ही आशीर्वाद दिया। गुरुजन समझ रहे हैं कि राघवेन्द्र आकर सबसे पहले मेरे चरणों में प्रणाम कर रहे हैं। मित्र समझते हैं कि भगवान् राम मुझे गले लगा रहे हैं। अब बताइये कितनी रामायण बन गयीं। अगर अयोध्या के समस्त लोगों से यह प्रश्न किया जाय--यह बताओ कि जब भगवान् राम सायंकाल ६ बजे पुष्पक विमान से उतरे तो उन्होंने पहले क्या किया? मित्र कहेगा--वे गले मिले। सेवक कहेगा--उन्होंनें आशीर्वाद दिया। गुरुजन कहेंगे--उन्होंने प्रणाम किया। अब किसकी रामायण झूठी है और किसकी सही? और यह भी मजे की बात थी कि जितने लोग थे, सब अपने भगवान राम से मिल रहे थे। किसी ने उन्हें बगल में देखने लग जाते, तब तो सन्देह हो जाता कि हमारे भगवान् सही हैं अथवा इनके। आजकल लोग दूसरे के भगवान् का खण्डन ही अधिक करते हैं। अपने भगवान्

को देखने की फिक्र कम हो गयी है। लोगों के अंतःकरण में खण्डन की वृत्ति ऐसी जागृत हुई है कि अपने भगवान् में डूबने के बदले दूसरे के भगवान् की आलोचना में ज्यादा मग्न रहते हैं कि इनके भगवान् गलत हैं। अरे भाई! जो सही है, उसमें तो डूबो। जो सही है, उसका तो अनुभव करो। इसका अभिप्राय यह है कि अयोध्या में जितने नागरिक हैं, प्रत्येक की रामायण अलग हो गयी। और यही तो भक्ति का आनन्द है। भक्ति का रस ही ऐसा है कि जैसा हम चाहते हैं, भगवान् वैसे ही हमारे होकर रहें और जैसी लीला हम देखना चाहें, वैसा वे करके दिखायें। भक्ति में यह स्वतंत्रता बड़ी अनोखी है। भक्तों ने भगवान् से अनेक प्रकार की लीलाएँ करवायी हैं। इसीलिए गोस्वामीजी ने रामायण के प्रारम्भ में लिखा कि अन्य रामायण से यदि मेरी रामायण से आपको अन्तर लगे, तो आप आश्चर्य न कीजियेगा। यह न सोचियेगा कि यह कोई कल्पना है। यह हमारे भगवान् राम की गाथा है। वाल्मीकि ने भगवान् राम को जैसा जाना, वैसा उन्होंने लिखा। पर तुलसीदास के राम तो इसी प्रकार के हैं। गोस्वामीजी ने तो कभी कभी ऐसा भी किया--भगवान् की जो लीला हो रही थी, उसे उलटकर उन्होंने दूसरी लीला में बदल दिया। उन्होंने जिस प्रकार भगवान् राम के चरित्र का वर्णन किया, उसी प्रकार भगवान् राम के नाम की रामायण का भी वर्णन किया है। उन्होंने

कहा, जैसे भगवान् राम लीला करते हैं वैसे ही भगवान् के नाम की लीला होती है। बाल काण्ड में गोस्वामीजी भगवान् की नाम-लीला और उनकी लीला की तुलना करते हैं और बतलाते हैं कि दोनों में क्या अन्तर है। रामचरितमानस में भगवान् का लीलास्थल अयोध्या है, वहाँ महाराजा दशरथ और कौसल्या के घर चैत की रामनवमी को भगवान् राम का अवतार होता है। किन्तु नाम-भगवान् के अवतार में गोस्वामीजी न तो अयोध्या का उल्लेख करते हैं और न महाराज दशरथ और कौसल्या का। वे उल्लेख करते हैं यशोदा का। वे कहते है-- यह जो मेरी जिह्वा है वह यशोदा है और भगवान् राम के नाम के जो दो अक्षर हैं- 'रा' और 'म' वे हैं कृष्ण और बलराम। गोस्वामीजी की पंक्ति है--

जीह जसोमति हरि हलधर से।

जब पहले मैंने यह बात पढ़ी, तो मुझे थोड़ा अटपटा लगा। मुझे लगा कि गोस्वामीजी अगर जिह्वा को कुछ बनाना ही चाहते थे तो वे उसे कौसल्या बना देते तथा 'रा' और 'म' अक्षरों को राम और लक्ष्मण बना देते। किन्तु उन्होंने जिह्वा को यशोदा बनाया, क्यों? गोस्वामीजी कहते हैं, यही भक्ति का आनन्द है। भक्ति में भक्त स्वतंत्र है और वेदान्त में ब्रह्म स्वतंत्र है। भक्ति में भगवान् परतंत्र हैं और जीव स्वतंत्र, और विचार की दृष्टि से व्यवहारत: जीव परतंत्र दिखायी देता है और ब्रह्म स्वतंत्र। रामायण में सांकेतिक कथा आती है--जिस समय

विवाह न होने के कारण नारद क्रोध से काँपते हुए चले जा रहे हैं यह सोचते हुए कि या तो शाप देकर भगवान् को दण्ड दूंगा अथवा मर जाऊँगा, तो देखते हैं--

बीचहिं पंथ मिले दनुजारी।

बीच मार्ग में ही भगवान् मिल गये। केवल मिले नहीं, उन्होंने उन्हें प्रणाम भी किया और प्रणाम करके मुस्कराकर नारद से एक बात पूछते हैं--

बोले मधुर बचन सुर साईं, मुनि कहँ चले बिकल की नईं।।

बड़े मीठे शब्दों में कहते हैं कि मुनिजी, बड़े व्याकुल की तरह कहाँ जा रहे हैं ? अब आप नारद के क्रोध की कल्पना कीजिए--एक तो मुझे बन्दर की आकृति दे दी, विवाह नहीं होने दिया और उसी राजकुमारी को अब साथ ले सामने खड़े हैं और मुझसे पूछ रहे हैं कि कहाँ जा रहे हैं ? बड़े क्रोध में भरकर उनकी ओर देखा मानों कह रहे हों-- तुम्हें पता नहीं कि हम कहाँ जा रहे हैं ? भगवान् का प्रश्न बड़ा सार्थक था। भगवान् ने कहा-- मैं यह तो जानता हूँ कि तुम कहाँ जाना चाहते हो इसलिए तुमसे यह नहीं पूछ रहा हूँ कि तुम कहाँ जाना चाहते हो? पूछ यह रहा हूँ कि तुम कहाँ जा रहे हो ? तात्पर्य क्या? नारद जाना तो चाहते हैं भगवान् के पास, लेकिन भगवान् के धाम की जो सड़क है उसे भूल गये हैं और दूसरी सड़क पकड़ ली है। जैसे आप किसी जगह जाना चाहें और उल्टी सड़क पकड़ लें, तो आपका मित्र मिलने पर कहेगा कि भई उधर कहाँ जा रहे हो ? नारद ने उल्टी सड़क पकड़ ली

है। वे क्रोध में काँप रहे है। और क्रोध की सड़क कहाँ ले जाती है?

काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।

क्रोध की सड़क पकड़कर मनुष्य नरक में पहुँचता है। इसलिए भगवान् ने मुस्कराकर कहा कि महाराज, इस नरक वाली सड़क पर आप कैसे? यह तो मेरे धाम को ले जाने वाली सड़क नहीं है। यह कैसा आश्चर्य कि आप इस मार्ग पर चले जा रहे हैं। भगवान् का प्रश्न बड़ा सार्थक था कि इस मार्ग पर चलकर तो कोई भी आज तक मेरे पास नहीं पहुँचा। पर नारद की समझ में अब भी नहीं आता। वे भगवान् पर बिगड़ पड़े और फटकारते हुए उन पर पहला आरोप लगाया ——

परम स्वतंत्र न सिर पर कोई।
भावइ मनहि करहु तुम सोई॥

तुम परम स्वतंत्र हो, तुम्हारे सिर पर कोई नहीं है, इसलिये मनचाहा करते हो। भगवान् चुपचाप सुनते हैं। नारद जी और लगे फटकारने और गाली देने। नारद की फटकार और गाली सुनकर भगवान् और हँसे। भगवान् इसलिए हँसे कि चलो नारद, तुमने अधूरा काम पूरा कर दिया। मैं जल्दी जल्दी में विवाह करके चला आया था। पर विवाह का मुख्य अंग जो गाली है, वह तो रह ही गया था, सो तुमने उसे पूरा करके बड़ा आनन्द दिया। विवाह के बाद गाली सुनकर सुख ही मिलता है। भगवान बड़े प्रसन्न हो रहे हैं। पर नारद

के क्रोध की सीमा नहीं। वे भगवान् की निन्दा करते हैं और अन्त में भगवान् को शाप देते हैं। जब शाप दे चुके तो भगवान् ने क्या किया ?

श्राप सीस धरि हरषि हियँ, प्रभु बहु बिनती कीन्हि।

भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और नारद का शाप सिर पर रख लिया। सिर पर क्यों रखा? नारद के मुख से निकला था न-- 'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई।' तुम परम स्वतंत्र हो, तुम्हारे सिर पर कोई नहीं है। सो भगवान् ने कहा-- लो, महाराज अब यह न कहो। अब तो आपका शाप मेरे सिर पर है। मैं कहाँ स्वतंत्र रहा। आप जैसे सन्त जब शाप दे दें, तो वह मुझे सिर पर रखना ही पड़ता है। इसलिए आपका यह आरोप ठीक नहीं।

भगवान् परतंत्र हो गये, भक्त को उन्होंने स्वतंत्रता दे दी। और यही भक्ति के पथ का--भगवान् के सगुण-साकार रूप का माधुर्य है। (क्रमशः)

*

हमें जो कुछ चाहिए वह यह श्रद्धा ही है। दुर्भाग्यवश भारत से इसका प्रायः लोप हो गया है, और हमारी वर्तमान दुर्दशा का कारण भी यही है। एकमात्र श्रद्धा के भेद से ही मनुष्य मनुष्य में अन्तर पाया जाता है। इसका और दूसरा कारण नहीं। यह श्रद्धा ही है, जो एक मनुष्य को बड़ा और दूसरे को दुर्बल और छोटा बना देती है।

—स्वामी विवेकानन्द

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढारकर

(१) ब्राह्मण कौन?

भगवान् बुद्ध अनाथपिंडक के जेतवन में ग्रामवासियों को उपदेश कर रहे थे। शिष्य अनाथपिंडक भी समीप ही बैठा, धर्मचर्चा का लाभ ले रहा था, तभी सामने से महाकाश्यप मौद्गल्यायन, सारिपुत्र, चुन्द और देवदत्त आदि आते हुए दिखायी दिये। उन्हें आते देख बुद्धदेव बोले—"वत्स! उठो, ब्राह्मणमण्डली आ रही है, उसके लिए योग्य आसन का प्रबन्ध करो।"

अनाथपिंडक ने आगन्तुकों की ओर दृष्टि दौड़ायी, फिर साश्चर्य कहा—"भगवन्! आप सम्भवतः इन्हें जानते नहीं। ब्राह्मण तो इनमें एक ही होगा, शेष में कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य और कोई अस्पृश्य भी हो सकता है।"

यह सुन बुद्धदेव हँसे और उससे बोले, "तात! जाति जन्म से नहीं, गुण, कर्म और स्वभाव से पहचानी जाती है। रागरहित, धर्मपरायण, संयमी और सेवाभावी होने के कारण ही मैंने इन्हें ब्राह्मण कहा है। ऐसे पुरुषों को तू निश्चय ही ब्राह्मण मान। वैसे सभी जीव जन्म से शूद्र ही होते हैं।

(२) विचित्र आशीर्वाद

गुरु नानक एक बार एक गाँव में गये। इस गाँव के लोग नास्तिक विचारधारा के थे। वे साधुओं को 'ढोंगी' की संज्ञा देते। उन्होंने नानकजी के प्रति कटु

वचन कहे और उनका तिरस्कार भी किया, तथापि नानकदेव शान्त ही रहे। दूसरे दिन जब वे वहाँ से रवाना होने लगे, तो लोग उनके पास आये और उन्होंने कहा, "जाने के पहले आशीर्वाद तो देते जायँ!" नानकदेव मुस्करा दिये और बोले, "आबाद रहो।"

वे जब समीपस्थ ग्राम में पहुँचे, तो वहाँ के लोगों ने उनका उचित सत्कार किया तथा रहने-खाने का भी उचित प्रबन्ध किया। नानकजी ने उनके समक्ष प्रवचन किया। प्रवचन-समाप्ति के उपरान्त श्रद्धालु लोगों ने उनसे 'आशीर्वाद' देने का आग्रह किया, तो नानकदेव बोले—"उजड़ जाओ।"

शिष्यों ने ये विचित्र आशीर्वाद सुने तो उनकी कुछ समझ मे न आया। उनमें से एक से न रहा गया और वह पूछ ही बैठा—"देव! आपने तो बड़े ही विचित्र आशीर्वाद दिये हैं। आदर करनेवालों को तो 'उजड़ जाने' का आशीर्वाद दिया है, जब कि तिरस्कार करनेवालो को 'आबाद रहने' का। मेरी समझ में तो कुछ भी नहीं आया कृपया स्पष्ट करें।"

नानकदेव हँसते हुए बोले—"सज्जन लोग उजड़ेंगे तो वे जहाँ भी जायेंगे, अपनी सज्जनता के कारण उत्तम वातावरण बना लेंगे; किन्तु दुर्जन यदि अपना स्थान छोड़ें तो वे जहाँ जायेंगे वहीं का वातावरण दूषित बनायेंगे, इसलिए उन्हें 'आबाद रहने' का आशीर्वाद है!"

(३) मूर्तिपूजा नहीं, श्रद्धा

एक बार स्वामी दयानन्द सरस्वती कानपुर गये। तब श्री लक्ष्मणशास्त्री और हलधन ओझा ने उनसे शास्त्रार्थ करना चाहा। बात जब तत्कालीन सहायक जिलाध्यक्ष डब्ल्यु. थेरा साहब को पता चली, तो वे भी उसके साथ हो चले। स्वामीजी ने प्रसन्नतापूर्वक शास्त्रार्थ करने की अनुमति दी।

पहला प्रश्न ओझाजी ने किया--"आप महाभारत को तो मानते हैं न?" स्वामीजी बोले, "हाँ"। तब ओझाजी ने महाभारत का एक श्लोक सुनाया और बोले, "इसमें कहा गया है कि एक भील ने द्रोणाचार्य की मूर्ति बनाकर उसके सामने धनुविद्या सीखी। फिर भी आप मूर्तिपूजा का विरोध करते हैं?"

इसपर स्वामीजी बोले, "मगर इस श्लोक में प्रतिमा-पूजन की आज्ञा ही कहाँ है? इसमें तो यह बताया गया है कि एक भील ने धनुर्विद्या कैसे सीखी। उस भील ने तो वैसा ही किया जैसा कि अन्य अज्ञानी लोग किया करते हैं। इससे यह तो तात्पर्य नहीं निकलता कि मूर्तिपूजा के कारण वह धनुर्विद्या में प्रवीण हुआ। यह तो उसके अभ्यास का फल था, जैसा कि अंग्रेज लोग चाँदमारी द्वारा सीखते हैं। वे कोई मूर्ति तो बनाते नहीं।"

फिर उन्होने दूसरा प्रश्न किया--"अच्छा स्वामीजी! यह बतायें कि वेद में प्रतिमापूजन की आज्ञा नहीं है, तो निषेध भी कहाँ है?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया--"मान लो किसी व्यक्ति

ने अपने सेवक को आज्ञा दी कि वह पश्चिम को जाये; तब इस आदेश में ही तीनों दिशाओं का निषेध हो जाता है। उस सेवक द्वारा यह पूछना कि 'उत्तर, दक्षिण और पूर्व दिशाओं की ओर न जाऊँ?' में कोई तुक नहीं। इसी प्रकार वेद ने जो उचित समझा उसका प्रतिपादन किया और शेष को निषिद्ध ही समझना चाहिए।"

तब थेरा साहब बोले, "अच्छा स्वामीजी! यह बतायें कि आप किसको मानते हैं?" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"ईश्वर को। बस उसके प्रति श्रद्धा होना आवश्यक है।"

स्वामीजी के इन उत्तरों से वे लोग प्रभावित हो गये और प्रसन्नतापूर्वक वहाँ से लौटे।

(४) सहिष्णुता

एक व्यापारी की सन्त तुकाराम पर अतीव श्रद्धा थी। उसने उनके वस्त्र देख स्वयं के वस्त्रों से तुलना की, तो उसे बड़ा ही दुःख हुआ कि तुकारामजी मोटे और फटे पुराने वस्त्र पहनते हैं, जबकि उसके वस्त्र धुले और कीमती हैं। बस उसके तुकाराम की नाप का मखमल का एक जाकिट बनवाया और उसे लेकर उनके पास पहुँचा, किन्तु तुकाराम ने उसे लेना अस्वीकार कर दिया। इस पर व्यापारी बोला, "मैं इसे भक्ति-भाव से भेंट कर रहा हूँ, आप यह स्वीकार करें।" उसका अधिक आग्रह देख तुकाराम ने वह जाकिट ले लिया। वह व्यापारी बोला, "मगर इसे आपको पहनना ही होगा। मैं कल

देखने आऊँगा। कि आप इसे पहनते हैं, या नहीं।" इस पर तुकारामजी मुस्करा दिये।

दूसरे दिन वह व्यापारी तुकाराम के घर आया, तो उसने पाया कि उन्होंने वह जाकेट उलटा पहना है। वह बोला, "स्वामीजी! आपने इसे ठीक तरह से नहीं, उल्टा पहना है।" तुकाराम ने जवाब दिया--"ठीक ही पहना है मैंने! बात यह है कि मखमल को शरीर से चिपकाकर मैं उसका सुख ले रहा हूँ तथा अन्दर का अस्तर जो सामने किया है, वह तो लोगों को दिखाने के लिए है कि सन्त पुरुष कीमती वस्त्र नहीं पहनते।"

तब उस व्यापारी को प्रतीति हुई कि सन्त पुरुषों पर लक्ष्मी का असर नहीं पड़ता है। उसने उनसे क्षमा माँगी और कहा कि आप अपने नित्य के वस्त्र पहना करें।

(५) प्रेमाधिक्य का परिणाम

आन्ध्रप्रदेश में बम्मेर पोतन्ना नामक एक सन्त हो गये हैं, जिन्होंने 'श्रीमद्भागवत' का तेलुगु में रूपान्तर किया है। एक दिन वे अष्टम स्कन्ध का गजेन्द्र-मोक्ष प्रसंग लिख रहे थे कि पीछे से उनका शालक श्रीनाथ आया और वह पढ़ने लगा--"मगर ने गजेन्द्र (हाथी) का पैर पकड़ा और वह उसे धीरे धीरे निगलने लगा। तब गजेन्द्र के प्राण संकट में पड़ गये और उसने भगवान् कृष्ण की प्रार्थना की। आर्त पुकार सुनकर भगवान् तुरन्त वहाँ आ पहुँचे। उन्हें जल्दी में अपने सुदर्शन चक्र को लेने का भी ध्यान न रहा....।"

उनका शालक इतना पढ़कर रुक गया और अपने बहनोई का मजाक उड़ाने की दृष्टि से वह बोला, "आपने कैसे लिखा कि भगवान् को सुदर्शन चक्र लेने का ध्यान न रहा। वे क्या लड़ाई देखने जा रहे थे? यदि वे सुदर्शन चक्र साथ में न ले जायें, तो भला गजेन्द्र की मुक्ति कैसे होगी? कोई काव्य लिखने के पूर्व उसे अनभव की कसौटी पर परखना आवश्यक होता है।"

पोतन्ना उस समय तो चुप रहे, मगर दूसरे दिन उन्होंने शालक के लड़के को दूर खेलने भेज दिया और समीप के एक कुएँ में एक बड़ा पत्थर डाल दिया। जोरदार आवाज हुई और पोतन्ना चिल्लाने लगे—"श्रीनाथ! दौड़ो-दौड़ो, तुम्हारा बच्चा कुएँ में गिर गया है।"

श्रीनाथ ने जो सुना, तो वह दौड़ते हुए आया और बिना कुछ सोचे कुएँ में कूदने लगा। यह देख पोतन्ना ने उसे पकड़ रखा और बोले "मूर्ख हो क्या कि बिना कुछ सोचे कुएँ में कूद रहे हो? तुमने यह भी नहीं सोचा कि तैरना आता है या नहीं। और बच्चे को निकालोगे भी कैसे? रस्सी-बाल्टी भी तो साथ में लाये नहीं।"

श्रीनाथ जब सोचने लगा, तो पोतन्ना बोले, "घबराओ नहीं, तुम्हारा बच्चा गिरा नहीं है। वह देखो सामने से आ रहा है। मैं तो तुम्हें यह दिखाना चाहता था कि जिस पर प्रेम अधिक हो, उसके संकट में पड़ने पर मनुष्य कि क्या दशा होती है। जिस प्रकार

पुत्र-प्रेम के कारण तुम्हें रस्सी-बाल्टी लेने का स्मरण न रहा उसी प्रकार भगवान् कृष्ण को भी सुदर्शन चक्र लेने का स्मरण न रहा।

और तब श्रीनाथ ने समझा कि प्रियजनों के विलाप अथवा दुःख-कष्ट की बात सुनकर मनुष्य सुध-बुध खो बैठता है।

*

उपनिषद्‌युगीन सुदूर अतीत में, हमने इस संसार को एक चुनौती दी थी : **'न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'**— न तो सन्तति के द्वारा और न सम्पत्ति के द्वारा, वरन् केवल त्याग द्वारा ही अमृतत्व की उपलब्धि होती है।' एक के बाद दूसरी जाति ने इस चुनौती को स्वीकार किया और अपनी शक्ति भर संसार की इस पहेली को कामनाओं के स्तर पर सुलझाने का प्रयत्न किया। वे सब की सब अतीत में असफल रही हैं--पुरानी जातियाँ तो शक्ति और स्वर्ण की लोलुपता से उद्‌भूत पापाचार और दैन्य के बोझ से दबकर पिस मिट गयीं और नयी जातियाँ गर्त में गिरने को डगमगा रही हैं। इस प्रश्न का तो हल करने के लिए अभी शेष ही है कि शान्ति की जय होगी या युद्ध की, सहिष्णुता की विजय होगी या असहिष्णुता की, शुभ की विजय होगी या अशुभ की, शारीरिक शक्ति की विजय होगी या बुद्धि की, सांसारिकता की विजय होगी या आध्यात्मिकता की। हमने तो युगों पहले इस प्रश्न का अपना हल ढूंढ लिया था।.... हमारा समाधान है असांसारिकता– त्याग।

—स्वामी विवेकानन्द

शिवाजी पर स्वामी विवेकानन्द के विचार-३

डा. एम. सी. नाञ्जुन्दाराव

(गतांक से आगे)

(लेखक स्वामी विवेकानन्द के प्रिय भक्तों में से थे। लेखक से वार्तालाप के प्रसंग में स्वामीजी ने इतिहास के ऐसे कई महत्त्वपूर्ण पृष्ठों को उजागर किया है जो विदेशी इतिहासकारों के द्वारा अपने स्वार्थ की सिद्धि हेतु विकृत कर दिये गये थे। प्रस्तुत लेखमाला में स्वामीजी के द्वारा छत्रपति शिवाजी के जीवनवृत्त सम्बन्धी तथ्य एक नये रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत हुए हैं। इस संस्मरणावली में स्वामीजी की इतिहास में गहरी पैठ दर्शनीय है। यह लेखमाला मूल अंग्रेजी में 'वेदान्त केसरी' नामक मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। इसके ऐतिहासिक महत्त्व को देखते हुए हम हिन्दी-भाषी पाठकों के लाभार्थ इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। प्रस्तुत लेख 'वेदान्त केसरी' के अप्रैल १९१५ अंक से साभार गृहीत हुआ है।--सं.)

साधु गोस्वामी ने कहा कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जीवन के चौहरे प्रयोजन हैं। इनमें से प्रथम तीन पुरुषार्थों के सम्यक् अर्जन एवं सामंजस्य के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति करना जीवन का सर्वोच्च एवं अन्तिम लक्ष्य है। जब तक मोक्ष की प्राप्ति या ईश्वर-साक्षात्कार नहीं हो जाता, तब तक मनुष्य दुःख, पाप और अनन्त जन्म एवं मृत्यु के कष्टों से मुक्त नहीं हो सकता; वह कभी भी धन्य नहीं हो सकता तथा उसके द्वारा बिताया गया जीवन व्यर्थ हो जाता है। ऐसी उपलब्धि तभी

सम्भव होती है, जब एक ऐसे प्रबुद्ध गुरु की कृपा प्राप्त हो जिन्होंने स्वयं ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया हो और जो अपनी कृपाकी शक्ति और अपने सर्वनिष्ठ जीवन से मानवजाति का उद्धार कर सकते हों।

तुम्हें किसी साम्प्रदायिक या अन्य विचारधाराओं के सामान्य उपदेशकों को, या अन्य धर्मों के पुरोहितों अथवा पण्डितों को सद्गुरु समझने की भूल नहीं करनी चाहिये। ये लोग गुरुत्व से पर्याप्त दूर होते हैं। सद्गुरु तो वे हैं जिन्होंने न केवल स्वयं आत्मा की अनुभूति की है, पर जो अपने योग्य शिष्य को परमात्मा का परिचय प्रदान करते हैं तथा उसकी अनुभूति करने में सहायता देते हैं। ऐसे गुरु की महिमा वर्णनातीत है। भारत में ही सद्गुरु की महिमा जानी गयी है तथा उनकी साक्षात् ईश्वर के रूप में पूजा की गयी है। भारत में ही गुरु की आवश्यकता को व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक माना गया है। हमारे प्रायः सभी धार्मिक ग्रन्थों में सद्गुरु की आवश्यकता और महत्ता के भावोद्दीपक वर्णन भरे पड़े हैं।

स्वामीजी कहते चले--यदि और सीधी तरह कहें तो आत्मा किसी दूसरी आत्मा से ही अन्तःप्रेरणा प्राप्त कर सकती है, अन्य किसी वस्तु से नहीं। हम जीवन भर किताबें क्यों न पढ़ते रहें, हम प्रखर रूप से बौद्धिक क्यों न बन जायँ, पर अन्त में हम पायेंगे कि हमने आध्यात्मिकता का विकास बिलकुल ही नहीं किया है। पुस्तकीय

ज्ञान आध्यात्मिक उन्नति के लिये अपर्याप्त होता है। यही कारण है कि हम आध्यात्मिक विषयों पर, दर्शन और वेदान्त पर बड़ी विलक्षण चर्चाएँ तो कर लेते हैं, पर जब उसे कार्य में परिणत करने का और आध्यात्मिक जीवन जीने का सवाल उठता है तब हम स्वयं को अतिशय हीन और नैतिक क्षमता से रिक्त पाते हैं। चेतना को तीव्रतर बनाने के लिये एक अन्य आत्मा से अन्तःप्रेरणा प्राप्त होनी चाहिये जो पूरी तरह पवित्र हो चुके हैं और जिनका हृदय उपयुक्त रूप से विकसित हो चुका है, उन पर जब अन्तःप्रेरणा का प्रभाव पड़ता है तो उससे आध्यात्मिक शक्ति का विकिरण होता है। यह आध्यात्मिक शक्ति ही सर्वत्र शान्ति बिखेरने में समर्थ होती है तथा उन सबका जीवन प्रभावित करती है जो ऐसे लोगों के सम्पर्क में आते हैं। जिस व्यक्ति की आत्मा से इस प्रकार की अन्तःप्रेरणा निःसृत होती है, उसे 'गुरु' कहा जाता है तथा जिस व्यक्ति की आत्मा तक इस अन्तः प्रेरणा का सम्प्रसारण होता है, उसे 'शिष्य' कहते हैं।

साधु गोस्वामी अत्यन्त भावप्रवणता के साथ श्रोताओं को उपदेश दे रहे थे कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने गुरु की खोज करना आवश्यक है। भले ही कोई संसार का चक्रवर्ती सम्राट् हो, पर यदि उसके अन्तःकरण में गुरु के लिये तीव्र आकुलता का संचार नहीं होता और वह सद्गुरु की प्राप्ति नहीं कर लेता, तो उसका जीवन व्यर्थ चला जाता है। यह सुनकर शिवाजी का हृदय

धिक्कार से भर उठा। यह सोचकर कि वे गुरु की प्राप्ति नहीं कर सके हैं और उन्हें दीक्षा और गुरु-कृपा नहीं मिल पायी है, वे अपने आप को अतिशय विपन्न समझने लगे। शिवाजी अपने हृदय में एक भारी बोझ लेकर महल लौटे। वे सो नहीं सके। उनके विषाद की अनुभूति इतनी तीव्र थी कि रात भर वे प्रार्थना करते रहे। प्रातःकाल उन्होंने गुरु खोजने का संकल्प किया और वे तुकाराम दास की खोज में निकल पड़े। शिवाजी तुकाराम को जानते थे। उनके उपदेशों को उन्होंने सुना था और उनके हृदय में तुकाराम के प्रति एक महान् सन्त और भक्त के रूप में अतिशय श्रद्धा थी। उन्होंने जल्दी ही उन्हें प्रतापगढ़ के पास के एक गाँव में ढूँढ़ निकाला। वे सन्त को देखते ही उनके चरणों पर गिर पड़े और उनसे प्रार्थना की कि वे उन्हें शिष्य के रूप में स्वीकार कर दीक्षा प्रदान करें। शिवाजी की महती आकुलता और विनम्रता को देखकर उस महान् सन्त की आँखें भर आयीं। उन्होंने शिवाजी को उठाकर गले से लगा लिया और आशीर्वाद देते हुए बोले, "प्यारे शिवाजी! मैं तुम्हारी महती भक्ति और सद्गुरु प्राप्त करने की तीव्र व्याकुलता को जानता हूँ। मुझसे भी महान् व्यक्ति तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। मैं कुम्हार हूँ। मुझे किसी को दीक्षा देने का कार्य नहीं करना चाहिये। इस प्रकार का कार्य ब्राह्मण संन्यासी ही कर सकते हैं। तुम शीघ्र एक ऐसे ही व्यक्ति से मिलोगे और तुम्हारी हार्दिक

अभिलाषा पूर्ण हो जायेगी।" इतना कह उन्होंने पुनः आशीर्वाद देते हुए उन्हें विदा दी। सन्त तुकाराम की विनम्रता को क्या कहें! उस समय उनसे बड़ा कोई भी सन्त नहीं था। वे ईश्वरीय अनुभूति से सम्पन्न एक ऐसे महात्मा थे जो धर्म और नैतिकता के उच्चतम सत्यों का उपदेश कर सकते थे; तथापि उन्होंने ऐसा कोई कार्य नहीं किया जो उनको जाति के लिए निषिद्ध था। जो महान् होते हैं, वे विधानों को नहीं तोड़ा करते, प्रत्युत उनका पालन करते हैं।

शिवाजी ने भारी हृदय से तुकाराम से विदा ली और वे प्रतापगढ़ की ओर चले। उन्होंने सारा दिन उपवास किया था। इसलिये वे स्नान कर मन्दिर में पहुँचे। वहाँ उन्होंने अत्यन्त व्याकुलता से प्रार्थना की कि यदि वास्तव में कोई गुरु उन्हें दीक्षा देना चाहते हैं और उन्हें ससार के पाशों से बचाना चाहते हैं, तो वे स्वप्न में प्रगट होकर उन्हें दर्शन प्रदान करें। उन्होंने मन्दिर में देवी का प्रसाद ग्रहण किया और रात्रि में वहीं सो गये। उन्हें स्वप्न में देवी के दर्शन हुए। जगन्माता सुमंगला या सुवासिनी के रूप में प्रगट हुईं और बोलीं, "रामदास मारुति का अवतार है और उसने केवल तुम्हारे ही लिये जन्म ग्रहण किया है। तुम शीघ्र ही उससे मिलोगे। उसके सम्पर्क में क्या होगा, यह तुम्हें तभी ज्ञात होगा। जागो और उठ कर उसे देखने के लिये जाओ।" इतना कहकर देवी अदृश्य हो गयीं। दूसरे दिन बहुत सबेरे ही शिवाजी

मन्दिर से निकलकर रामदास की खोज में बढ़े। वे चाफल नामक गाँव में पहुँचे। वहाँ वे श्री रामानन्द के मन्दिर में गये और मण्डप में बैठकर गहन विचारों में लीन हो गये। जिस स्थान पर शिवाजी बैठे हुए थे, वहाँ पर नरसोमलनाथ नामक संन्यासी आये और उन्होंने पूछा कि वे इतने उदास क्यों हैं तथा उन्होंने ऐसा क्या कर डाला है? जब उन्हें उनकी उदासी का कारण मालूम हुआ तो वे अन्तर्दृष्टि से यह समझ गये कि ये छद्म वेश धारण किये हुए शिवाजी ही हैं। उन्होंने रामदास का विवरण देते हुए कहा--"रामदास की महत्ता का वर्णन कौन कर सकता है? वे पवित्र ब्राह्मण-दम्पति के पुत्र थे तथा उनका नाम नारायण था। ग्यारह वर्ष की ही अवस्था में जब वे किशोरावस्था में पदार्पण कर रहे थे, तभी उन्होंने यह जान लिया था कि संसार स्वप्न मात्र है। ब्राह्मण दम्पति ने इस किशोर का विवाह रचाया और सारा प्रबन्ध बड़े पैमाने पर किया गया। जब लड़के को विवाह मण्डप में ले जाया गया और उसके समीप एक अत्यन्त सुन्दरी अरुणवर्णा वधू को बिठाया गया तब वह एका-एक उठ खड़ा हुआ और भीड़ को चीरते हुए जंगल की ओर तपस्या करने के लिये निकल गया। बुद्ध के उपरान्त वैराग्य की देवी ने अपने भक्त की मुक्ति के लिये ऐसा भावप्रवण क्षण कभी नहीं चुना था। किशोर नारायण ने, जिसकी रगों में स्वस्थ गर्म खून का संचार हो रहा था, संसार का त्याग कर दिया और ईश्वरीय प्रेम तथा

भक्ति के कठिनतर जीवन को ग्रहण कर लिया। इसके पश्चात् बारह वर्षों तक उसने कठोर तपस्या की। इन्द्रियों का बड़ी कठोरता से दमन, पूर्ण मनोनिग्रह और इष्टदेव का अविच्छिन्न ध्यान उसकी तपश्चर्या के प्रमुख सोपान थे। यह बाल सन्त सूर्योदय के बहुत पहले गोदावरी के जल में खड़े होकर गायत्री के पुनीत मंत्र का उच्चारण करते हुए दीख पड़ता। उसका मन ध्यान में इतना डूब जाता कि उसे मछलियों के काटने का भी भान नहीं होता था। प्रायः दोपहर को वह सामान्य भावभूमि पर लौटता। मध्याह्न में वह पवित्र एवं विद्वान् ब्राह्मणों का प्रवचन सुना करता। सन्ध्या होने पर वह अपने इष्टदेव श्रीराम के मन्दिर में पहुँच जाता और प्रार्थना एवं ध्यान में एक पहर रात बिता देता। दिन पर दिन यह किशोर धार्मिक उपासनाओं का अभ्यास करता रहा। उसने आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग में आनेवाली समस्त सामान्य बाधाओं को सरल बना लिया और सभी संघर्षों एवं कठिनाइयों का बड़ी दृढ़ता से सामना करता रहा। उसमें दुर्दमनीय साहस था और वह कठोर से कठोर तपस्या की क्षमता रखता था। अन्त में इन कठिनतर साधनाओं के फलस्वरूप माया का अनिर्वचनीय और सूक्ष्म आवरण पिघलने लगा, जो आत्मा और संसार को आपाततः अलग कर देता है, और तेईस या चौबीस वर्ष की अवस्था में ही यह युवा सन्त अपनी साधना में पूर्णकाम हो उठा। उसने अपनी आत्मा का साक्षात्कार

कर लिया और इस प्रकार वह जन्म और मृत्यु के बन्धनों से, धर्म और अधर्म के बन्धनों से मुक्त हो गया। उसके हृदय की चिरपोषित अभिलाषा पूरी हो गयी और उसने आगे जीने का जो विचार किया, वह ससार और देश के कल्याण के लिये ही था। संक्षेप में, वह जीवन्मुक्त हो गया।

"नारायण, अब रामदास बनकर समस्त भारत की तीर्थयात्रा पर निकले। उन्होंने हरद्वार से रामेश्वर और सिन्धु से गंगा तक की यात्राएँ कीं। वे जहाँ भी गये, उन्होंने देखा कि मुस्लिम शासक लूट-खसोट और मन्दिरों को तोड़ने में लगे हुए हैं। यह देखकर वे रो पड़े। राष्ट्रीय पतन के इन चिह्नों को देखकर रामदास की महती आत्मा पर गहरी चोट पहुँची। इसलिए वे जहाँ गये वहाँ उन्होंने लोगों को इस पतनावस्था की अनुभूति करायी और उन्हें जगाया, मारुति के मन्दिरों की स्थापना की, मठों को नवजीवन दिया तथा देश के बिभिन्न भागों में घूमकर लोगों के समक्ष धर्म की पुनः प्रतिष्ठा की आवश्यकता प्रतिपादित की। यदा-कदा वे जगलों में चले जाते और गुहा में बैठ कर अनेक दिन तपश्चर्या में बिता देते। अनेक दुर्दान्त पशु उनके चारों ओर घूमते रहते, पर उन्हें उन पशुओं से कोई क्षति नहीं पहुँचती। फिर वे वनों से बाहर निकलते और धर्म-प्रचार के लिए एक दृढ़ संघ के निर्माण का प्रयास करते। इस प्रकार रामदास व्यस्त रहे। किन्तु वे शीघ्र

हाँ तुमसे मिलने आयेंगे।" इतना कहकर सोमलनाथ ने उन्हें आशीर्वाद दिया और चले गये।

शिवाजी ने बड़ी तल्लीनता से सोमलनाथ से रामदास के जीवन और कार्य के वृत्तान्तों को सुना। उनके मन पर रामदास के विचार पूर्ण रूप से छा गये। उनके मन में उन्हें ढूँढ़ने की और उनके दर्शन प्राप्त करने की व्याकुलता इतनी बढ गयी कि उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि जब तक उन्हें उनके गुरु के दर्शन नहीं होंगे, जो उनके जीवन और कार्यप्रणाली पर इतना महान् प्रभाव डालने वाले हैं, तब तक वे भोजन का एक ग्रास भी ग्रहण नहीं करेंगे। ऐसा निश्चय कर उन्होंने दिन भर उपवास किया और मन्दिर में रात्रियापन करते हुए वे जगन्माता से अत्यन्त कातर होकर प्रार्थना करने लगे कि वे उनके गुरु का दर्शन प्रदान करें। रात्रि में उन्हें वैसा ही स्वप्न दिखा। उन्होंने देखा कि रामदास उनके सम्मुख खड़े हैं। उनकी काया लम्बी है तथा उनका व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली है। उनके मुख पर उनकी विशिष्ट लम्बी दाढ़ी शोभायमान है। वे हाथों में दण्ड और कमण्डलु धारण किये हुए हैं। शिवाजी उन्हें देखते ही खड़े हो गये। उनकी आँखें अश्रुसिक्त हो उठीं और उन्हें रोमांच हो आया। उन्होंने उन्हें साष्टांग दण्डवत् किया। उनका हृदय एक अकथनीय हर्ष से भर उठा और वे धन्य हो गये। रामदास ने उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा "मैं तुम्हारी हृदय की अभिलाषाओं से परिचित हूँ और मैं

यह भी जानता हूँ कि तुम यहाँ क्यों आये हो। मैं जानता हूँ कि तुम्हारे मन में अपने देश के लिये, लोगों के लिये और अपने धर्म के लिये कितना प्रेम है और सर्वोपरि तुम असहाय, अबला, गो, सत्पुरुषों और धर्म के कल्याण के निमित्त कितने व्यग्र हो। तुम्हारे द्वारा अनेक बड़े कार्य होने हैं। तुम अपनी राजधानी लौट जाओ और अपने हृदय में इस महती भक्ति का विकास करते रहो। मैं तुमसे शीघ्र मिलूँगा।" इतना कहकर उन्होंने आशीर्वाद दिया और अदृश्य हो गये। कहा जाता है कि जब शिवाजी दूसरे दिन प्रातःकाल धन्यता और उच्चता की अनुभूति से भरकर उठे, तो उन्हें अपने समीप एक नारियल रखा हुआ मिला। इसे वे अपने गुरु का प्रसाद समझकर साथ लेते गये और अपनी पत्नी को दे दिया।

कुछ दिनों बाद जब वे धार्मिक कृत्यों का सम्पादन कर रहे थे, उनके हृदय में अपने गुरु से भौतिक रूप में मिलने की उत्कण्ठा तीव्र हो उठी और एक दिन तो वे इतने बेचैन हो उठे कि मन को अन्यत्र लगाने के लिये उन्होंने आखेट में निकलने का प्रबन्ध किया।

एक छोटे दल के साथ शिवाजी अपनी राजधानी से पचीस मील दूर के जंगल की ओर बढ़ चले। उनके दल का प्रत्येक सदस्य शिकार खोजने के लिए अलग-अलग दिशा में चला गया। शिवाजी को उस दिन एक भी शिकार नहीं मिला, इसलिए उनके हृदय की खिन्नता और भी बढ़ गयी। वे अपने दल से अलग होकर इधर-

उधर घूमते रहे। दोपहर बीत चला था। इतने में उन्होंने देखा कि वे जहाँ पर खड़े हैं उससे काफी दूर पर वृक्षों के झुरमुट में एक या दो पशु आराम से टहल रहे हैं। वे सम्हलकर उस स्थान की ओर बढ़े। वे जैसे ही उस स्थान के समीप पहुँचे तो वे यह देखकर आश्चर्य-चकित हो गये कि वहाँ एक-दो नहीं अपितु बहुत से पशु हैं। सर्वाधिक आश्चर्य की बात यह थी कि वहाँ भालू, चीते जैसे हिंस्र पशु हिरण आदि अहिंसक पशुओं को बिना नुकसान पहुँचाये टहल रहे हैं। यह देखकर उन्होंने आखेट का विचार त्याग दिया। फिर वे जैसे ही उस स्थान पर पहुँचे, उनके हृदय में उल्लास की एक विलक्षण अनुभूति का उद्रेक हुआ जिसने उनके विषाद की पिछली अनभूति को दबा दिया। वे अत्यन्त ही प्रसन्न और आनन्दित हो उठे। उन्हें अपने मन में ही नहीं, अपितु सर्वत्र शान्ति का मधुर साम्राज्य छाया प्रतीत हुआ। वे चकित होकर सोचने लगे कि इस सबका क्या कारण है। वे बिना किसी पशु को बाधा पहुँचाये मन्द गति से आगे बढ़ने लगे। थोड़ी ही दूर जाने पर उन्हें अपने हृदय में होने वाले अचानक परिवर्तन का कारण समझ में आ गया। वे यह देखकर महान् आश्चर्य और आनन्द से भर उठे कि एक विशाल वट वृक्ष के नीचे महात्मा रामदास ध्यानमग्न हैं। शिवाजी को उनकी आकृति ठीक वैसी ही दिखी जैसी उन्होंने अपने मन्दिर में स्वप्न में देखी थी। स्वामीजी आसपास से पूरी तरह

से बेखबर हो समाधि में लीन थे। जंगल के सिंह तथा अन्य पशु उनके चारों ओर घूम रहे थे, मानो वे उनकी रक्षा कर रहे हों और उनकी सेवा में नियुक्त हों। शिवाजी ने इस अप्रत्याशित भेंट के लिये ईश्वर को हृदय से धन्यवाद दिया। वे धीरे-धीरे उनके समीप आये और फिर उनके सामने बैठकर उनकी दिव्य आकृति का अवलोकन करने लगे। वे अपने हृदय में आकुल भाव से यह प्रार्थना करने लगे कि स्वामीजी उन्हें शीघ्र आशीर्वाद दें। किन्तु रामदास दण्डवत् अविचलित बैठे रहे। सन्ध्या हो रही थी और शिवाजी को अपने नगर लौटना था उनके लिए इस भव्य आकृति से स्वयं को दूर करना बड़ा ही कष्टप्रद था, तथापि कर्त्तव्य की बाध्यता के कारण उन्हें ऐसा करना पड़ा। अपनी इस महत्तर प्राप्ति से विलग होने के कारण वे दुःख से भर उठे और द्विधाग्रस्त मन लेकर राजधानी वापस लौटे। उन्होंने निश्चय किया कि वे अगली सुबह वहाँ फिर जायेंगे। सारी रात उन्होंने सन्त के ध्यान में काट दी।

प्रातःकाल उठते ही उन्होंने स्नान किया और अविलम्ब उस स्थान की ओर बढ़ चले जहाँ रामदास समाधि में बैठे हुए थे। उन्होंने पिछली सन्ध्या उन्हें जिस स्थिति में देखा था, वे उसी स्थिति में थे। शिवाजी उनके सामने बैठ गये और ध्यानमग्न होकर अपने हृदय में अत्यन्त आन्तरिकता के साथ प्रार्थना करने लगे कि रामदास शीघ्र आँखें खोलकर उन्हें आशीर्वाद

दें। पर उस दिन भी रामदास समाधि की अवस्था से नहीं उठ सके और शिवाजी को सन्ध्या अपनी राजधानी वापस लौटना पड़ा। अगली सुबह वे पुनः वहाँ पहुँचे, किन्तु वैसा ही हुआ। राज्य के मंत्रीगण तथा अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति शिवाजी के ऐसे विलक्षण व्यवहार को तथा राजकार्यों के प्रति ऐसी बेलाग उदासीनता को देखकर चिन्तित हो उठे। उन्होंने देखा कि शिवाजी प्रतिदिन 'जंगल के जादूगर' को देखने जाया करते हैं। लोग रामदास को जंगल का जादूगर कहा करते थे क्योंकि उनमें हिंस्र पशुओं को मंत्रमुग्ध करने तथा उनसे अपने आदेशानुसार कार्य कराने की शक्ति थी। एक दिन वे दल बाँधकर शिवाजी के पास पहुँचे। उन्होंने कहा, "महाराज, आप अपने कार्यों के प्रति उदासीनता प्रकट करते हुए क्यों प्रतिदिन उस महान् जादूगर के पास जाया करते हैं? बहुत सम्भव है कि उस जादूगर ने आप पर भी जादू चला दिया हो। अभी आपकी उम्र ऐसा कार्य करने की नहीं है। वह बहुत खतरनाक आदमी है। वह बच्चों के साथ इस तरह से खेलता है मानो वह स्वयं एक बच्चा हो। फिर वह हरएक बच्चे को अपने पीछे आने और खेलने के लिये बाध्य कर देता है। सारे हिंस्र पशु वफादार कुत्ते के समान उसकी आज्ञा का पालन करते हैं और उसके इर्द-गिर्द खेलते रहते हैं। वह एक दिन तो एक स्थान पर रहता है और दूसरे दिन ऐसे स्थान पर दिखायी देता है जो पहले स्थान से बहुत दूर

है। हम लोग उसके कारनामों के बारे में अजीबोगरीब कहानियाँ सुनते हैं। आप उसके पीछे क्यों पड़े हुए हैं? यदि आप अपने धर्म के सम्बन्ध में सब-कुछ जान लेना चाहते हैं तो यहाँ ऐसे अनेक प्रख्यात पण्डित और विद्वान् जन हैं जो गीता, उपनिषद् तथा समस्त शास्त्रों पर प्रवचन कर सकते हैं। ये आपको इन सब विषयों की जानकारी दे सकते हैं तथा आपको वह ज्ञान भी प्रदान कर सकते हैं जिसे आप इतने अध्यवसाय से खोज रहे हैं।" इस प्रकार तथा अन्याय विधियों से उन्होंने शिवाजी से निवेदन किया कि वे रामदास के पास न जायँ। शिवाजी ने उनके प्रतिवादों को मुस्कराते हुए सुना और कहा कि वे जिस ज्ञान की खोज कर रहे हैं, वह पुस्तकों से या पण्डितों और विद्वानों से प्राप्त नहीं हो सकता। उन्हें विश्वास है कि शीघ्र ही उन पर गुरु की कृपा होगी और वे धन्य हो जायेंगे। इतना कहकर वे पूर्ववत् उस स्थान पर गये जहाँ रामदास समाधि में लीन थे। पूरे नौ दिन रामदास समाधि से नहीं उठे। दसवें दिन उन्होंने आँखें खोलीं। अपने सम्मुख कुछ दूरी पर शिवाजी को बैठा देख उन्होंने कृपापूर्ण स्मिति से उन्हें अपने समीप बुलाया। गुरु के द्वारा पहचान लिये जाने से शिवाजी प्रफुल्लित हो उठे और उन्होंने समीप जाकर उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। रामदास ने उन्हें अपने हृदय से लगा लिया और पूछा कि उस रात मन्दिर में उनके द्वारा दिये गये नारियल का उन्होंने क्या किया। शिवाजी

ने बताया कि उन्होंने उस नारियल को पूजा में रख छोड़ा है। इससे शिवाजी के मन में यह विश्वास और भी जम गया कि रामदास ने ही उन्हें उस रात दर्शन दिये थे। रामदास ने उन्हें समीप की नदी में स्नान करके आने के लिये कहा। शिवाजी स्नान करके पूजा की सामग्रियों के साथ वापस लौटे। तब रामदास ने उन्हें दीक्षा दी और तेरह अक्षरों वाला महान् तारक मंत्र प्रदान करते हुए आशीर्वाद दिया। शिवाजी के आनन्द की सीमा न रही। वे एक अलौकिक धरातल पर पहुँच गये। वे अब अपने महान् गुरु से वियुक्त होने की बात भी नहीं सोच सकते थे, जिन्होंने अत्यन्त कृपापूर्वक उनके नेत्रों को तत्त्वज्ञान के निमित्त खोल दिया था। इसलिए शिवाजी ने अपने गुरुदेव से उनके समीप रहने और उनकी सेवा करने की अनुमति माँगी। उनकी प्रार्थना को सुनकर रामदास कुछ विरक्ति का भाव प्रदर्शित करते हुए बोले, "क्या तुम इसीलिए मेरे पास आये हो? तुम सामान्य मनुष्य नहीं हो। तुम्हारा कर्त्तव्य धर्म की स्थापना करना है जो मुसलमानों के प्रभाव से लड़खड़ा रहा है। तुम्हें म्लेच्छों का विनाश करना है तथा निर्बलों, सत्पुरुषों और साधुओं की रक्षा करनी है। जब भी आवश्यक होगा, मैं सदैव तुम्हारे पास उपस्थित रहूँगा। तुम आन्तरिक रूप से तो ईश्वर के प्रति भक्ति करते रहो, पर बाहर से क्षत्रिय धर्म का पालन करते हुए समस्त कर्तव्यों का निर्वाह करो।" इतना कहकर उन्होंने पुनः

आशीर्वाद दिया और एक नारियल, एक मुट्ठी धूल, दो मुट्ठी लीद और चार मुट्ठी पत्थर देकर शिवाजी को वापस भेज दिया। शिवाजी इन्हें अपने साथ घर ले आये और अपनी माता जीजाबाई को सारी बातें बताकर वे चीजें उन्हें सौंप दीं। जीजाबाई अपने पुत्र की विनम्रता और अध्यात्म-प्रेम से अतिशय प्रसन्न थीं। उन्होंने पूछा कि रामदास द्वारा दिये गये नारियल, धूल, लीद और पत्थर का क्या अर्थ है। शिवाजी ने गुरु से प्राप्त इन भेंटों का अर्थ अन्तर्दृष्टि से जान लिया था। उन्होंने बताया--"नारियल मेरी समृद्धि के लिये है। धूल, लीद, और पत्थर का अर्थ यह है कि मैं अनेक देशों पर विजय प्राप्त करूँगा, बहुत बड़ी सेना तैयार करूँगा, और अनेक किले जीतूँगा।" गर्वमयी माता जीजाबाई ने अपने पुत्र को गले से लगा लिया और आशीर्वाद दिया। शिवाजी ने जिस समय रामदास से मंत्र-दीक्षा ग्रहण की थी, तब वे मात्र इक्कीस वर्ष के थे। इस प्रकार उन्होंने संसार को यह बता दिया कि ईश्वर के प्रति प्रेम और आध्यात्मिकता ऐसी वस्तुएँ नहीं हैं जिन्हें बुढ़ापे के लिये रख छोड़ा जाय, जैसा कि लोग समझते हैं। बुढ़ापे में तो व्यक्ति जर्जर और अन्य कार्यों के लिये अक्षम हो जाता है। फिर आध्यात्मिकता संसार के श्रमसापेक्ष, कठोर और कष्टकर कर्त्तव्यों के निर्वाह की विरोधी भी नहीं है। उल्टे सच्ची आध्यात्मिकता का विकास हमारे सांसारिक कर्त्तव्यों के साथ-साथ ही होता है। संसार

से भागना न तो आवश्यक है और न सराहनीय। वैराग्य उदात्त भावों और उच्चतर आकांक्षाओं का निषेध नहीं करता, प्रत्युत वह हमें फल से निरपेक्ष होकर अपने समस्त कर्त्तव्यों के स्वीकार और पालन करने पर बल देता है। वैराग्य तो ईश्वरीय आदेश होने पर समस्त वस्तुओं को त्याग देने की तत्परता का नाम है।

'संसार में रहो पर उसके होकर नहीं,' यह एक ऐसा आदर्श है जिसे सबको स्वीकार करना चाहिये तथा इसकी प्राप्ति का प्रयास करना चाहिये। शिवाजी ने कैसे इस आदर्श को सदैव अपने समक्ष रखा और कैसे इसकी प्राप्ति का प्रयास किया--इसे हम उनके जीवन की कुछ घटनाओं के माध्यम से समझने का प्रयास करेंगे।

(क्रमशः)

मेरा विश्वास है कि गुरु से साक्षात् सम्पर्क रखते हुए, गुरु-गृह में निवास करने से ही यथार्थ शिक्षा की प्राप्ति होती है। गुरु से साक्षात् सम्पर्क हुए बिना किसी प्रकार की शिक्षा नहीं हो सकती। हमारे वर्तमान विश्वविद्यालयों की ही बात लीजिए। उनका आरम्भ हुए पचास वर्ष हो गये (यह १८९७ में मद्रास में कहा गया था), पर फल क्या मिला है? वे एक भी मौलिक-भाव-सम्पन्न व्यक्ति उत्पन्न नहीं कर सके। वे परीक्षा लेने वाली संस्थाएँ मात्र हैं। साधारण जनता की जागृति और उसके कल्याण के लिए स्वार्थत्याग की मनोवृत्ति का हममें थोड़ा भी विकास नहीं हुआ है।

— स्वामी विवेकानन्द

शरणागति-रहस्य-२

कुमारी सरोजबाला

(गतांक से आगे)

(प्रखर मेधासम्पन्न इस बालिका का जन्म १ नवम्बर, १९५६ ई० को हुआ है। कहते हैं कि छः वर्ष की उम्र से ही इन्होंने प्रवचन देना आरम्भ कर दिया। आश्रम में इनके कई प्रवचन हो चुके हैं। प्रस्तुत प्रवचन ६-११-१९६९ को दिया गया था, जिसकी दूसरी किस्त यहाँ प्रकाशित की जा रही है।--सं)

उपनिषदों का कहना है--"देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः।" अर्थात् हे मानव, तू इस शरीर को देवता का एक मन्दिर समझ। इसमें रहनेवाला चैतन्य, जिसे तू जीव कहता है, साक्षात् शिवरूप ईश्वर है। योगवाशिष्ठ के निर्वाण-प्रकरण के पूर्व में बताया गया है कि जिसप्रकार सोना मैल के कारण ताँबेपने को प्राप्त हो जाता है, लेकिन जहाँ वह मैल नष्ट हुआ कि सोना पुनः सोनेपने को प्राप्त होता है, उसीप्रकार यही ब्रह्म, यही शुद्ध चेतन देहादि भावनाओं के कारण जीव-पने को प्राप्त होता है। पर सद्‌गुरुदेव की कृपा से ज्योंही उसे अपने असली स्वरूप का ज्ञान होता है, त्योंही वह साक्षीस्वरूप हो जाता है। पर अगर उसे अपने असली स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाया, तो वह ब्रह्मस्वरूप होते हुए भी, अज्ञान और आवरण के कारण अनेक विभ्रमरूप भयों को देखता है। मनुष्य के अन्दर चैतन्य-कला के सिवाय और कुछ भी नहीं है, पर जब यह अपने को चैतन्य-कला से पृथक् समझता है, तब वह वृथा शोक-

दुःखादि किया करता है। तभी तो हमारे शास्त्रों का कहना है---"तथैवात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेन व्रतत्वमेति।" मतलब यह है कि ईश्वर जहाँ प्रकट होता है, वहाँ पूर्णरूप से प्रकट होता है। वह चींटी के शरीर में न तो छोटा है और न हाथी के शरीर में बड़ा।

कठोपनिषद् में कहा गया है--

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

अर्थात् जब घर में आग लगती है, तो जिस वस्तु को जलाती है, उसी वस्तु के आकार की बनती दिखायी देती है। अगर वह पलंग को जलाती है तो पलंग के आकार की, अगर तख्त को जलाती है तो तख्त के आकार की, अगर कुर्सी को जलाती है तो कुर्सी के आकार की बनती दीखती है; पर अग्नि वह नहीं है। इसी तरह ईश्वर जहाँ प्रकट होता है, वहाँ उसी के आकार और स्वभाव वाला दीखता है। ईश्वर समस्त भूतों का अन्तरात्मा है। तो फिर ईश्वर और जीव में क्या अन्तर हो सकता है? हमारे महापुरुषों का कहना है--

जीव ईश का भेद त्यज सब में बरतै आप
मझसे ईश्वर दूसरा यही द्वैत संताप।
कहाँ ईशता जीवता पूरण चिद्घन भान
छोटी मोटी सब लहर जल है एक समान॥

--अर्थात् एक ही नदी के जल की लहरें, चाहे वे छोटी हों या बड़ी, एक ही जल होती हैं। इसीप्रकार ईश्वर

भी सर्वत्र पूर्ण रूप में ही प्रकट होता है। अब आप समझ गये होंगे कि ईश्वर और जीव में क्या अन्तर है। जीव ईश्वर का रूप है और केवल माया के कारण इन दोनों में पृथकता दिखायी देती है। तो अब माया का भी स्वरूप समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि माया किसे कहते हैं और माया के आवरण से मनुष्य कैसे मुक्त हो सकता है।

यह माया, यह प्रकृति इतनी कठिन है कि इसे देख कर साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या, ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी भयभीत हो जाते हैं। गोस्वामीजी वर्णन करते हैं--'शिव चतुरानन देखि डराहीं, अपर जीव केहि लेखे माहीं।' भगवान् भी भगवती गीता के अन्तर्गत कहते हैं--'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया,' अर्थात् यह त्रिगुणमयी मेरी माया अत्यन्त ही गहन है। श्रीरामकृष्ण परमहंस कहा करते थे कि एक समय एक व्यक्ति ने यह समाचार सुना कि एक सन्त महापुरुष के पास पारसमणि है। पारसमणि के लोभ से वह सन्तजी के पास जाकर सेवा करने लगा। महापुरुष तो अन्तर्यामी थे। कुछ दिनों के बाद वे उस व्यक्ति से बोले, "मैं गंगा-स्नान करके आता हूँ। फिर तुम्हें मैं पारसमणि दूँगा।" इतना कह वे स्नान के लिए चले गये। पर उस व्यक्ति को सन्तोष नहीं हुआ और उसके पूरी कुटिया छान डाली। लेकिन उसे पारसमणि नहीं दिखा। जब सन्त जी वापस आये तो उस व्यक्ति ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की, "भगवान्!

पारसमणि आपने कहाँ छिपा रखा है?" तब सन्तजी ने सामने रखी लोहे की डिब्बी को लाने के लिए कहा। उस व्यक्ति ने विचार किया की लोहे कि डिब्बी में पारसमणि तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि पारसमणि से जहाँ लोहे का स्पर्श हुआ कि वह स्वर्ण हो जाता है--'पारस परस कुधातु सुहाई।' यदि लोहे की डिब्बी में पारसमणि रखा हुआ है, तो इसे सोना ही बन जाना चाहिए था। उसने प्रश्न किया। सन्त ने कहा, "तुम पहले उसे ले तो आओ।" वह डिब्बी ले आया। डिब्बी को खोलने पर उसने देखा कि पारसमणि कपड़े में लिपटा हुआ है। सन्त ने कहा, "इस कपड़े को निकालो।" उसने ज्योंही कपड़े को निकाला और पारसमणि ने डिब्बी को स्पर्श किया कि लोहा स्वर्ण बन गया। सन्तजी ने बतलाया, "देख, इस पारसमणि पर कपड़े का आवरण था और डिबिया से उसका स्पर्श नहीं हो रहा था, इसीलिए यह डिबिया सोना नहीं बनी। पर आवरण के दूर होते ही इसका स्पर्श डिबिया से हुआ और यह सोना बन गयी। बस, इसी तरह ईश्वर और जीव के मध्य माया का परदा पड़ा हुआ है। जब तक माया का आवरण नहीं हटेगा, तब तक जीव ईश्वर के समान नहीं बन सकता।" यद्यपि यह गहन विषय है तथा इसमें चाट-पाट, चटनी-मसाले की कमी होती है, तथापि इसमें ऐसा नकद माल होता है, जिसे पचाना सभी के लिए थोड़ा मुश्किल होता है।

इसे तो वही पचा सकता है, जो कसरत करता है, परिश्रम करता है। मतलब, जो वेदान्त सम्मेलन में जाता है, महापुरुषों की शरण में जाता है और सत्संग करता है, वही इस वस्तु को पचा सकता है।

हमारे शास्त्रों ने बतलाया है कि शुद्ध ब्रह्म की आश्रिता शुद्ध सत्त्वप्रधान प्रकृति ही माया है तथा वह सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की एक अवस्था है। है। जब ये तीनों गुण समान हो जाते हैं, तब उसे शुद्ध प्रकृति कहते हैं। शुद्ध ब्रह्म और शुद्ध सत्त्वप्रधान प्रकृति के संयोग से समस्त संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार होता है। भगवान् गीताजी में अर्जुन से कहते हैं--

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृति सम्भवान्॥

मतलब, भगवान् कहते हैं, "अर्जुन, तू प्रकृति के ही द्वारा सारे संसार को उत्पन्न जान।" तुलसीदासजी कहते हैं-- "जो सृजति जग पालक हरति रुख पाय कृपानिधान की।" भगवान् मनुजी से स्वयं कहते हैं-- "आदि शक्ति जेहि जग उपजाया, सो अवतरहि मोर यह माया।" भगवान् का कहना है कि यह मेरी माया, मेरी प्रकृति, हमेशा मेरे साथ रहती है।

जब सत्त्वगुण बढ़ जाता है और रजोगुण एवं तमोगुण को दबा देता है, तब इसे शुद्ध माया या विद्यामाया कहते हैं। लेकिन सत्त्वगुण के लक्षण क्या हैं, यह भी जरा समझ लीजिये। सत्त्वगुण के लक्षण है-- प्रकाश,

ज्ञान, सुख, शान्ति, शम, दम, तितिक्षा, तप, सत्य, दया, श्रद्धा, लज्जा, आत्मसन्तोष, तुष्टि, त्याग, स्पृहा और शरणागति। इनमें से अगर दो-चार लक्षण भी शरीर में या मानव-जीवन में आ गये, तो वह मानव विद्या-माया में प्रवेश करके परमात्मा के धाम के रास्ते तक पहुँच जाता है। पर ध्यान रखो, यह सत्वगुण भी परमात्मा के रास्ते तक ही पहुँचाता है, उनके स्थान तक नहीं पहुँचा सकता।

हमारे श्रीरामकृष्ण परमहंस देव बहुत ही सुन्दर उदाहरण दिया करते थे। वे कहते थे—एक बार एक व्यक्ति किसी गाँव से अपने गाँव जा रहा था। रास्ते में घनघोर जंगल पड़ा। जंगल में उसे तीन डाकू मिले। तीनों ने उसका सारा धन छीन लिया। एक डाकू ने कहा–'इसे मार डालो, नहीं तो शहर में जाकर यह हमें पकड़वा देगा।' दूसरे ने कहा–'नहीं भैया, इसे मारो मत। इसे बाँधकर यहीं डाल दो।' डाकुओं ने ऐसा ही किया और उसे बाँधकर वहीं डाल दिया। फिर वे चले गये। थोड़ी देर के बाद तीसरा डाकू लौटा और बोला, 'हम लोगों से तुम्हें बहुत तकलीफ हुई। मैं तुम्हारे बन्धन को खोल देता हूँ।' डाकू उसका बन्धन खोल देता है और उसके साथ-साथ सड़क के किनारे पहुँचकर कहता है—'देखो, सामने तुम्हारा घर दीख रहा है। अब तुम चले जाओ। मैं अब तुम्हारे साथ और नहीं जा पाऊँगा।' तब उस व्यक्ति ने कहा, 'आपने मेरा उपकार किया

है। मैं आपके उपकार का बदला चुकाना चाहता हूँ। आप मेरे साथ चलिये।' डाकू ने कहा, 'अगर मैं तुम्हारे साथ जाऊँगा, तो लोग मुझे पकड़ लेंगे। अतः मैं तुम्हारे साथ नहीं जा सकता।'

यहाँ पर श्रीरामकृष्ण परमहंस बहुत सुन्दर अध्यात्म घटाते थे। ये तीन डाकू कौन हैं ? सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। तमोगुण मानव को बिलकुल मार डालना चाहता है, क्योंकि तमोगुण में पड़े व्यक्ति का जीवन होते हुए भी न होने के बराबर है। पर रजोगुण व्यक्ति को मारना नहीं चाहता, बल्कि बाँधना चाहता है, क्योंकि रजोगुण में पड़ा व्यक्ति बँध जाता है, संसार के चक्करों में फँस जाता है। श्रीरामकृष्ण का कहना था कि जो संसार में रहता है, वह संसार के विषयों में इतना अधिक फँस जाता है कि उसके लिये इनसे मुक्त होना कठिन हो जाता है। पर इनमें जो तीसरा डाकू सत्त्वगुण है वह यों तो परमात्मा की राह तक पहुँचा देता है, पर उनके समीप तक नहीं पहुँचा सकता। इसलिए यह सत्त्वगुण तब भी अच्छा है। जहाँ यह सत्त्वगुण आया कि धीरे-धीरे मानव के हृदय में विद्या-माया का प्रवेश होने लगता है और जीव ब्रह्म के समान बनने लगता है। अर्थात् वह अपने आप ब्रह्म के स्वरूप को पहचानने लगता है।

यह तो आपने विद्या-माया का लक्षण सुना। अब आप अविद्या-माया या अज्ञान को भी जरा समझ

लीजिये, जो मानव को भव-कूप में डुबा देती है और ब्रह्म के स्वरूप को आच्छादित कर लेती है। इस विषय में हमारे पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदासजी ने राम-चरितमानस के अन्तर्गत बहुत सुन्दर विवेचन किया है। लक्ष्मण ने ब्रह्मस्वरूप राम से प्रश्न किया— "आप मुझे माया का स्वरूप, माया के भेद और माया के जो अनेक प्रक के कार्य हैं, वह सब बतलाइये।" तब राम ने कर.— "मैं अरु मोर, तोर तैं माया, जेहि बस कीन्हे जीव निकाया।" 'मैं—मेरा,' 'तू तेरा,' बस यही माया है। कबीर भी कहते हैं—"मैं मैं बड़ी बलाय है, सकौ तो निकसौ भाग। कहै कबीर कब लग रहै रुई लपेटी आग।" माया का विस्तार कितना है?—"गो गोचर जहँ लग मन जाई, सो सब माया जानहु भाई।" जहाँ तक यह मन जाता है, उतना ही विस्तार माया का है। और माया के भेद कितने हैं?— "जेहि कर भेद सुनहु तुम सोऊ, विद्या अपर अविद्या दोऊ।" विद्या और अविद्या, ये माया के दो भेद हैं। "एक दुष्ट अतिशय दुख रूपा, जा बस जीव परा भव कूपा।" अविद्या-माया मानव को भव-कूप में डुबा देती है और विद्या-माया— "एक रचै जग गुण बस जाके। प्रभु प्रेरित नहि निज बल ताके।"

इस प्रकार विद्या-माया और अविद्या-माया के अलग-अलग लक्षण बतलाये गये हैं। विद्या-माया में सत्त्वगुण की विशेषता है और अविद्या-माया में रजोगुण और तमोगुण की विशेषता है। तो, रजोगुण और तमोगुण के लक्षणों

को भी जरा समझ लें, क्योंकि जब तक यह समझ में नहीं आयेगा, तब तक हम इसका त्याग कैसे कर सकेंगे? रजोगुण के लक्षण हैं——राग, द्वेष, तृष्णा, कर्म का दुःख, काम, इच्छा, मद, स्तम्भ, इन्द्रिय-सुख, मदोत्साह, हर्ष, प्रीति, यश, वीर्य, बल, उद्यम तथा आशीर्वाद देना। यदि इन सत्रह रजोगुण के लक्षणों में से दो-चार भी मानव में हैं, तो वह रजोगुणी होता है। अज्ञान, क्रोध, लोभ, झूठ, हिंसा, यातना, दम्भ, थकावट, कलि-क्लेश, शोक, विषाद. दुःख, परनिन्दा. दुराशा, भय, आलस्य, और प्रमाद इत्यादि ये सब तमोगण के लक्षण हैं। इनमें से दो-चार लक्षण भी जिसमें हों, समझ लीजिये कि वह मानव तमोगुणी है। तो जिस मनुष्य में रजोगुण और तमोगुण की विशेषता हो, उसमें अविद्या-माया का प्रकोप है, और जिसमें सत्त्वगुण की विशेषता हो, वह विद्या-माया है। विद्या-माया मनुष्य को भवसागर से निकाल देती है और अविद्या-माया उसे भव-कूप में डुबा देती है। परन्तु ये दोनों नाम हैं उसी त्रिगुणमयी माया के।

जब ये दोनों एक ही माया के दो नाम हैं, तो उनके काम अलग-अलग क्यों हैं? इसका कारण यह है कि माया के अर्थ के दो भेद हैं। 'मा' का अर्थ है 'नहीं', और 'या' का अर्थ है 'जो'। मतलब, जो विचार-काल में न हो, विना विचार के जिसकी प्रतीति हो, वही माया है। अर्थात् वास्तव में जब विचार किया जाय, तब तो कुछ न हो और बिना विचार के जिसकी प्रतीति हो, वही

माया है। इस माया का विनाश ज्ञान के द्वारा हो जाता है, इसलिए इसे अविद्या-माया कहते हैं। यह ब्रह्म के स्वरूप को ढँकती है, इसलिए इसे अज्ञान कहते हैं। यह माया सत् से भी विलक्षण और असत् से भी विलक्षण है। न तो इसे सत् कहा जा सकता है न असत् ही। सत् तो वह है, जिसका तीनों कालों में बाध न हो। 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म'—सत्यस्वरूप ब्रह्म का कभी बाध नहीं हो सकता। इस माया का तो ज्ञान के द्वारा बाध हो जाता है, इसलिए इसे सत् नही कह सकते। असत् वह है, जिसकी तीनों कालों— भूत, भविष्य और वर्तमान—में प्रतीति न हो; जैसे आकाश के कुसुम, वन्ध्या का पुत्र और खरगोश के सींग। पर माया और उससे उत्पन्न यह संसार दिखायी देता है। जो सत् से विलक्षण है, और असत् से भी विलक्षण है, उसे अद्वैत मत में मिथ्या और अनिवर्चनीय कहा गया है।

यह सुनकर अर्जुन ने प्रार्थना की, "भगवन्! जब आपकी माया इतनी गहन, कठिन और दुरत्यय है, तो मानव इससे कैसे पार हो सकता है?" भगवान् कहते हैं, "यद्यपि मेरी माया गहन है, तथापि 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'— जो सारे संसार के बन्धनों को तोड़कर मेरी शरण में आ जाता है, उसे मैं माया से मुक्त कर देता हूँ।"

लेकिन भगवान् की शरण में जाने से पहले उनपर सच्चा विश्वास करो, सच्ची श्रद्धा करो। वे भगवान् हैं, वे

ध्रुव हैं, वे सत्य हैं, वे चेतन हैं, जड़ नहीं हैं, वे संगमर्मर की मूर्ति नहीं हैं, वे तो साक्षात् परब्रह्म हैं--इस तरह का विश्वास कर जब हम उनकी शरण में जायेंगे, तो वे हमें अवश्य अपनायेंगे। श्रद्धा एक ऐसी वस्तु है, जिसके द्वारा मानव प्रेम की प्राप्ति कर सकता है, मुक्ति की प्राप्ति कर सकता है। शास्त्रों के अन्तर्गत प्रेम की प्राप्ति का मुख्य साधन श्रद्धा को ही बतलाया गया है ---

आदौ श्रद्धा ततः सङ्गस्ततोऽथ भजन-क्रिया,
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठारुचिस्ततः।
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति,
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः ।।

अर्थात्, सर्वप्रथम श्रद्धा और विश्वास की आवश्यकता है। जहाँ सच्ची श्रद्धा हो गयी, सच्चा विश्वास हो गया कि मानव महापुरुषों की शरण में जाता है, उनका सत्संग करता है। सत्संग में वह क्या सुनता है ? 'भगवान् का भजन करो।' जब वह भगवान् का भजन करता है, तो उससे अनर्थ की निवृत्ति होती है। अनर्थ की निवृत्ति से निष्ठा बढ़ती है। निष्ठा से भगवान् में आसक्ति होती है। आसक्ति से भाव उत्पन्न होता है। भाव से प्रेम, प्रेम से भक्ति, और भक्ति से मुक्ति की प्राप्ति होती है। इसलिए अगर शरणागति प्राप्त करनी है, सच्चा प्रेमी बनना है, तो सर्वप्रथम साधन है श्रद्धा।

(क्रमशः)

❖

कर्म-तत्त्व

घनश्याम श्रीवास्तव 'घन'

(पूर्वार्ध)

जीवन का क्रम और जीव की गति जिस तत्त्व पर आधारित है, वह तत्त्व है कर्म। जीव और जीवन से कर्म का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। यह पांचभौतिक शरीर जो दशेन्द्रिय-युक्त और मन-बुद्धि-प्रधान है, कर्म का साधन है। पंच प्राण जिनसे शरीर, मन और इन्द्रियों को शक्ति मिलती है, कर्म का स्रोत हैं। मनोगत कामना जो संस्कारवश उदित होकर चित्त में अवस्थित रहती है, कर्म की गति है और उसकी पूर्ति कर्म का अन्त है।

मन और इन्द्रियों की विविध क्रियाओं से कर्म का आरम्भ होता है। प्राण ही उनको कार्य करने की क्षमता प्रदान करते हैं। जब तक शरीर में प्राण हैं, तभी तक मन और इन्द्रियाँ सचेष्ट हैं, कार्यशील हैं, और जब शरीर से प्राणों का लोप हो जाता है तो वे भी वैसे ही निष्क्रिय हो जाती हैं, जैसे पेट्रोल के समाप्त हो जाने पर मोटर-इंजिन का चलना बन्द हो जाता है। मन और इन्द्रियों की सतत चेष्टा के फलस्वरूप प्राणी सदैव कर्मशील बना रहता है। वह एक क्षण भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। यह उसका प्रकृति-नियत स्वभाव है। गीता (३।५) में भगवद्वचन से इस तथ्य की पुष्टि होती है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

--'कोई भी पुरुष किसी काल में क्षण भर के लिए भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। सभी प्राणी प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा परवश (नियंत्रित) होकर कर्म करते हैं।'

कर्म-समुदाय में कुछ कर्म व्यक्त (क्रियात्मक) और कुछ अव्यक्त (संकल्पात्मक) होते हैं। इन्द्रियों के माध्यम से किये गये कर्म व्यक्त और मन के माध्यम से किये गये कर्म अव्यक्त कहलाते हैं। मानसिक चिन्तन अथवा संकल्प के आधार पर चित्त में पड़े हुए अव्यक्त कर्म इन्द्रियों के व्यापार से समयानुसार व्यक्त होते रहते हैं। जैसे मैं सोचता हूँ-- 'कल प्रयाग जाऊँगा,' तो यह मेरा सोचना अव्यक्त कर्म है और जब कल प्रयाग की यात्रा करूँगा तो वह मेरा व्यक्त कर्म होगा। जीवन में कर्म का प्रवाह कभी अवरुद्ध नहीं होता।

जाग्रत् अवस्था में पुरुष मन और इन्द्रियों के सहारे जाग्रत् लोक के कर्म करता है; स्वप्नावस्था में वह मन के सहारे स्वप्नलोक सम्बन्धी कर्म करता है; श्वास लेने का कर्म तो वह सुषुप्ति काल में भी नहीं छोड़ता। ऐसी दशा में भला वह कब कर्म-विहीन रह सकता है?

मनुष्य की प्रकृति उसके पूर्व संस्कारों के अनुरूप बनती है। प्रकृति के अनुकूल उसका अन्त:करण होता है। अन्त:करण के अनुकूल उसकी मनोदित कामनाएँ होती हैं और कामनाओं के अनुरूप उसके कर्म होते हैं। कर्म के अनुरूप उसका फल होता है और फल के अनुसार मनुष्य

की गति होती है।

जगत् में मुख्यतः चार प्रकार के मनुष्य पाये जाते हैं। तमोगुणी, रजोगुणी, सात्त्विक और मुक्त। तमोगुणी मनुष्य दुर्गुणों की खान होता है। उसकी कामनाएँ घोर स्वार्थपूर्ण और अमंगलकारी होती हैं। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए दूसरों का अहित करने में उसे तनिक भी हिचक नहीं होती। वह किसी का उत्कर्ष नहीं देख सकता। असत्य-भाषण, धोखा, और छल-कपट उसके जीवन-व्यापार के प्रधान पोषक हैं। उसके कर्म अशुभ, पापमय और निम्न कोटि के होते हैं। इस जीवन में तो वह भय, शोक और चिन्ता से ग्रसित रहकर दुःख भोगता ही है, मरणोपरान्त उसे नरक-वास और अधम योनि मिलती है। रजोगुणी व्यक्ति काम-क्रोधादि विकारों से ग्रस्त रहता है। उसकी कामनाएँ भोगैश्वर्यपूर्ण होती हैं। वह परिश्रमी, आत्मनिर्भर और महत्वाकांक्षी होता है। नाम-यश के विस्तार और ठाट-बाट में उसकी विशेष अभिरुचि होती है। वह येन-केन-प्रकारेण अपनी स्वार्थ-सिद्धि तो कर लेता है, पर भरसक दूसरों का अनिष्ट नहीं करता। उसके मन में आत्मसम्मान की लालसा रहती है, इसलिए वह बहुधा चाटुकारों, अनुचरों और सेवकों से घिरा रहता है। वह अहंकारी और अभिमानी होता है। नाम-यश के हेतु वह कभी-कभी लोकोपकार की भावना से अभिभूत होकर अपनी धन-सम्पत्ति का कुछ अंश जन-हित के कार्यों में भी लगा

देता है। अतएव उसके कर्म शुभाशुभमिश्रित और मध्यम कोटि के होते हैं। वह व्यक्ति ससार के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

सात्त्विक पुरुष के मन में सदैव सद्वृत्तियों का उदय होता रहता है। उसकी कामनाएँ मंगलमयी होती हैं। वह सबका हितैषी होता है। दया, क्षमा और नम्रता उसकी आत्मा के आभरण हैं। उसका जीवन भक्तिभावापन्न, सदाचारपूर्ण और सरल होता है। उसके कर्म शुभ, पुण्यमय और उत्तम कोटि के होते हैं।

पापकर्म और पुण्यकर्म दोनों ही सकाम कर्म की श्रेणी में आते हैं। लोकदृष्टि से पापकर्म निषिद्ध और पुण्यकर्म काम्य माने जाते हैं। पाप कर्मों का फल दुःख और नरकवास तथा पुण्य कर्मों का फल सुख और स्वर्ग-प्राप्ति है। मनुष्य का यह शरीर भोगायतन है। यह स्थूल शरीर के माध्यम से संसार के सुख-दुःख और सूक्ष्म शरीर के द्वारा नरक-स्वर्ग के भोग भोगता है। मनुष्य को किये हुए कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। वह जैसा कर्म करता है वैसा ही फल भोगता है। 'यथा कृतं तथा भुंक्ते' ––यह एक सार्वभौम सत्य है। इस जगत् में कोई किसी को सुख-दुःख नहीं देता। सभी अपने-अपने कर्मों का फल भोगते हैं। ऋषि जन इस सम्बन्ध में बड़ी सुन्दर चेतावनी देते हैं (विष्णुपुराण, १।१८।३१-३२)––

क: केन हन्यते जन्तुर्जन्तुर्क: केन रक्ष्यते।

हन्ति रक्षति चैवात्मा ह्यसत् साधु समाचरन् ।।
कर्मणा जायते सर्वं कर्मैव गतिसाधनम् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साधु कर्म समाचरेत् ।।

--'कौन जीव किससे मारा जाता है और कौन किससे रक्षित होता है ? शुभ और अशुभ आचरणों के द्वारा प्राणी स्वयं ही अपनी रक्षा और नाश करता है। कर्मों के कारण ही सब उत्पन्न होते हैं अर्थात् संचित कर्मों का फल भोगने के लिए ही सबको जन्म लेना पड़ता है। कर्म ही सबकी शुभाशुभ गतियों के साधन हैं। इसलिए प्रयत्नपूर्वक शुभ कर्मों का ही आचरण करना चाहिए।

मन, वचन और कर्म का संयम शुभाचरण की कुंजी है, सुगति और सुख का द्वार है। इन तीनों के असंयमित हो जाने से जीवन दुख:मय और अशान्तिपूर्ण बन जाता है। मन के असंयम का अर्थ है-- काम, क्रोध और लोभादि विकारों के राज्य में मन को स्वतंत्र रूप से विचरण करने की छूट दे देना। वचन का असंयम अर्थात् मुख से सत्यासत्य, कटु-मधुर और उचित-अनुचित का विचार किये बिना बोलना। कर्म पर मन और वचन के असंयम का गम्भीर प्रभाव पड़ता है। कर्म के असंयम का तात्पर्य है-- काम, क्रोध और लोभादि विकारों के वशीभूत हो विवेक तजकर कर्म करना। जैसे कोई व्यक्ति कामातुर होकर किसी स्त्री का बलात् शील भंग कर दे। या वेश्यागामी बन जाय। क्रोध के आवेश में वह किसी से झगड़ा और मार-पीट कर ले अथवा किसी की हत्या

कर बैठे। लोभ वश किसी की धन-सम्पत्ति का अपहरण कर ले। वस्तुत: कर्म का असंयम ही दुष्कृत्य को जन्म देता है, जिसके परिणाम में समाज अस्त-व्यस्त और जीवन विष-तुल्य बन जाता है। इसके विपरीत कर्म का संयम जीवन में सुख उड़ेल देता है और समाज को समृद्ध एवं शोभायमान बना देता है। विश्व में जो सुख-चैन देखने को मिलता है, वह कर्म के संयम की ही महिमा है।

मनुष्य अपने कर्मों के मूल्य पर जीवन में सुख-दुःख उपार्जित करता है। वह अपने सुख-दुःख का स्वयं ही उत्तरदायी है। जब उस पर दुःख-विपत्ति आती है तो वह घबरा उठता है। दुःख के आवेग में वह अर्धविक्षिप्त सा हो जाता है और लगता है दोष देने भगवान् को, भाग्य को और समय को। वह आकुल होकर कहता है--'भगवान् ने मेरे ऊपर विपत्ति ढा दी, वह बड़ा निष्ठुर है। क्या करूँ मेरा भाग्य खोटा है, मेरे भाग्य में दुःख ही बदा है। आज दिन बुरे आ गये हैं तभी तो निगोड़ा दुःख चला आया है रुलाने के लिए।' इस प्रकार भगवान्, भाग्य और समय पर वह मिथ्या दोषा-रोपण करता है। उसे यह ज्ञान नहीं है कि इस दुःख का कारण वह स्वयं है। मानस में गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं--

सो परम दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताय।
कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगाय।।

मनुष्य की बुद्धि का वैचित्र्य तो देखिये। जब

उस पर दुःख आता है तो वह उस दुःख का कारण भगवान्, भाग्य और समय को मानता है, और जब सुख आता है तो उस सुख का कारण वह स्वयं को मानता है। प्रफुल्लित होकर गर्व से कहता है—'अरे मैंने ऐसा किया, वैसा किया, तब तो कहीं आज सुख भोग रहा हूं। यह सुख तो मेरे पूर्वजन्म के पुण्य-कर्मों का फल है।' कैसा मूढ है यह मानव !

परन्तु धीर पुरुष की बात इससे सर्वथा भिन्न है। वह अपने सुख-दुःख का कारण स्वयं को ही मानता है। दुःख को वह पाप-कर्मों का फल और पाप का प्रायश्चित्त समझता है। दुःख आने पर वह हताश नहीं होता, बल्कि प्रबल उत्साह के साथ उसे झेल लेता है, मानो उसे कुछ हुआ ही न हो। उसके विचार में दुःख-भोग से संचित पाप-राशि का क्षय होता है। एक दुःख झेला, एक पाप खण्डित हुआ। पाप की गठरी कुछ हल्की हुई। इस प्रकार कालक्रम से जीवन में आये हुए दुःखों को भोगकर वह अधिकाधिक पाप-मुक्त होता चला जाता है। सुख आने पर भी वह सामान्य अवस्था में ही रहता है। सुख-भोग उसके दृढ़ मन को विचलित नहीं कर पाता।

कोई भी व्यक्ति मेरे सिर का बोझ अपने सिर पर लेकर मुझे भार-मुक्त कर सकता है, पर वह मेरे कर्म-फलों के भोग में बँटवारा नहीं कर सकता। यहाँ तक कि मेरे परिजन भी उस भोग को नहीं बाँट सकते।

अपने कर्म-फलों का भोग मुझे स्वयं भोगना पड़ेगा। मेरे शरीर में पीड़ा होगी तो मैं ही रुदन करूँगा, मेरे स्त्री-पुत्र नहीं रोयेंगे। जिस प्रकार गायों के समूह में बछड़े अपनी-अपनी माताओं का ही पीछा करते हुए चलते हैं, दूसरी गायों का नहीं, उसी प्रकार शुभाशुभ कर्म अपने कर्ता का अन्त तक अनुगमन करते हैं। वह कर्ता उनके फल-भोग से कदापि नहीं बच सकता, भले ही उसे उन कर्म-फलों को भोगने के लिए अनेक बार जन्म लेना पड़े। अतएव यह ज्ञान मन में बिठाकर सदैव शुभ कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए और दुःखजनक अशुभ कर्मों को त्याग देना चाहिए।

कर्म अपने स्वरूप में न शुभ है और न अशुभ, वह शुद्ध क्रिया मात्र है। उसकी पृष्ठभूमि में छिपा हमारा स्वार्थ, हमारी कामना उसे कलुषित कर देती है। स्वार्थ और कामना दोनों मिलकर कर्म को शुभाशुभ रूप प्रदान करते हैं। मनुष्य अपने-अपने अस्तित्व को ईश्वर से विलग एक स्वतन्त्र शक्तिमान् सत्ता समझता है, इसलिए उसमें अहंकार का प्रवेश हो जाता है। यह अहंकार उसके क्षुद्र व्यक्तित्व से परिवेष्टित रहता है। अपने व्यक्तित्व की सुरक्षा और अस्तित्व को जगत् में कायम रखने के लिए वह नानाविध आवश्यकताओं का अनुभव करने लगता है और साथ ही उसे साधनों का अभाव खटकने लगता है। उनकी पूर्ति के लिए उसके मन में विचार उठते हैं और आगे चलकर वे ही कामनाओं का रूप

धारण कर लेते हैं। उन कामनाओं से प्रेरित कर्मों का वह कर्ता बन जाता है। कर्तापन अर्थात् 'मैं कर्ता हूँ' की भावना, जो अहंकार से उत्पन्न होती है, उस कर्ता के हृदय में भोक्तृत्व भाव जगा देती है, और वह कर्म-फल का भोक्ता बन जाता है। भोग-वृत्ति से फलासक्ति का जन्म होता है और फलासक्ति से फलाशारूप बन्धन का। फल की आशा लिए वह कर्म करता रहता है और कर्म की समाप्ति तक एक अव्यक्त चिन्ता उसके मन में समायी रहती है। कर्म के भविष्य--सिद्धि-असिद्धि--को लेकर भी वह अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित रहता है। कर्म में यदि सफलता मिली तो हृदयाकाश में घिरे चिन्ता के बादल फट जाते हैं और वह हर्ष से उत्फुल्ल हो उठता है, और यदि असफलता हाथ लगी तो वह चिन्ता भयंकर शोक में परिणत हो जाती है। मन का यह विचलित होना ही आन्तरिक अशान्ति का कारण है। फलासक्त चिन्तित व्यक्ति को सुख-चैन कहाँ है? इसीलिए अहं-भाव से किये गये सकाम कर्म तुच्छ और अश्रेष्ठ कहे गये हैं।

फलासक्ति कर्म का विष है। यदि कर्म में से इसको निकाल दिया जाय और इसके स्थान पर कर्म में निष्कामभाव रूपी अमृत-बिन्दु डाल दिया जाय तो वह सारा कर्म अमृतमय बन जायगा। यह प्रक्रिया 'योग' के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे शब्दों में इसी को कर्मयोग कहते हैं। जिस प्रकार तत्त्वज्ञान के द्वारा ज्ञानयोग साधित होता है, उसी प्रकार निष्काम कर्म

के द्वारा कर्मयोग की साधना परिपुष्ट होती है। निष्काम कर्म प्रभाव में अत्यन्त व्यापक और दिव्य है। इसका आचरण समग्र मानवजाति के लिए मंगलकारी सिद्ध होता है। किम्बहुना, यह मनुष्य को आवागमन के चक्र से मुक्त करा देने की सामर्थ्य रखता है। गीता में भगवान् ने निष्काम कर्म को धर्म की संज्ञा प्रदान की है। भगवान् कहते हैं (२।४०)---

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

---'निष्काम कर्म में आरम्भ का अर्थात् बीज का नाश नहीं है और फलरूप दोष भी नहीं है। इसलिए कर्मयोगरूप धर्म का थोड़ा सा भी साधन जन्म-मृत्यु रूपी महान् भय से उद्धार कर देता है।' निस्सन्देह यह कर्मयोग परमगति का मार्ग है, मोक्ष का साधन है। जिस परमार्थतत्त्व की प्राप्ति ज्ञानयोग के द्वारा होती है, वही परमार्थतत्त्व कर्मयोग से भी उपलब्ध होता है। फल की दृष्टि से दोनों ही एक समान हैं। गीता (५।५) में श्रीभगवान् ने इसका निर्णय किया है --

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

---'ज्ञानयोगियों द्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियों द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिए जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोग को एक समान देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

गीता-काल के पूर्व भारत का विज्ञ समाज ज्ञान को ही मोक्ष का प्रमुख साधन मानता था। विशेषकर अद्वैतवादी इस विचारधारा के पूर्ण समर्थक थे। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' --अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं-- श्रुति का भी यही कथन है। ज्ञानियों का कहना था कि कर्म केवल चित्त-शुद्धि के लिए है, इससे अधिक उसका और कुछ प्रयोजन नहीं है। गीता भी कहती है--'योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये', परन्तु इतना कहकर ही वह कर्म के माहात्म्य का अन्त नहीं कर देती। इससे कहीं अधिक श्रेष्ठ एक नवीन विचारधारा वह प्रस्तुत करती है, और वह है भगवान् कृष्ण का क्रान्तिकारी घोष--'असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः', अर्थात् 'मनुष्य अनासक्त होकर कर्म करता हुआ परम पुरुष (परमात्मा) को प्राप्त होता है।' भगवान् कृष्ण ने जगत् में 'निष्काम कर्म से मोक्ष-प्राप्ति'--इस अभिनव विधान की प्रतिष्ठा की। यह देखकर कर्म के प्रति उदासीन मठाधीशों और ज्ञानियों का मानस झनझना उठा। इस भाव-प्रभंजन ने उनका हृदय झकझोर दिया। चारों दिशाओं में कर्मयोग की दुन्दुभी बज उठी। इससे भारत के जन-जीवन में स्फूर्ति की नयी किरण फूटी और आलस्य तथा कर्म-शैथिल्य से उत्पन्न नैराश्य का तिमिर तिरोहित हुआ।

❖

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

(गतांक से आगे)

स्वामीजी डिट्रायट में पहली बार १२ फरवरी से लेकर २३ फरवरी तक तथा दूसरी बार २३ मार्च से लेकर ३० मार्च तक रहे। इस बीच उन्होंने डिट्रायट में आठ वक्तृताएँ दीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने आसपास के नगरों में तथा विभिन्न घरों में आयोजित गोष्ठियों में भी वक्तृताएँ दी थीं। भगिनी क्रिस्टीन, जो बाद में स्वामीजी की अन्यतम शिष्या बनीं, उस समय डिट्रायट में थीं। उन्होंने स्वामीजी का पहला व्याख्यान वहीं सुना। पहले ही भाषण ने उन पर ऐसा अमिट प्रभाव डाला कि उन्होंने उनका एक भी भाषण न छोड़ा। पहले व्याख्यान के प्रभाव एवं अनुभवों के बारे में वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा—

"जब मैं १८९४ की फरवरी की एक ठंडी रात में डिट्रायट के यूनिटेरियन चर्च में भाषण सुनने जा रही थी, तब मैंने यह नहीं सोचा था कि इससे मेरा सारा जीवन ही बदल जायेगा और यह परिवर्तन इतने महत्त्व का होगा कि इसे पूर्व मापदंडों द्वारा नहीं नापा जा सकेगा। व्याख्यानों में उपस्थित होना भयानक नीरसता ही थी। कुछ नई और प्रेरणास्पद बातें सुन पाना कितना दुर्लभ था! उस जाड़े में जितने वक्ता डिट्रायट में आये, वे सब के सब प्रायः नीरस थे। अच्छे वक्ता

को सुन पाने का मोह-भग इस कदर हुआ कि सारी आशाएँ धूमिल हो चुकी थीं। इसलिए मैं बड़ी अनिच्छा से भारत से आये किसी विवेकानन्द की यह खास वक्तृता सुनने के लिए गयी, वह भी अपने मित्र श्रीमती मेरी सी० फके का अनुरोध रखने के लिए, जिसने अपने सुन्दर आशावादी स्वभाव के कारण यह मोह संचित किए रखा था और समझती रही थी कि एक दिन वह इस 'कुछ' को प्राप्त करने में सफल होगी। हम भारत से आय इस व्यक्ति को सुनने गयीं। अपने अगणित जीवन में भी हम लोगों ने ऐसा महत्वपूर्ण निर्णय कभी नहीं लिया होगा, क्योंकि पाँच मिनट तक सुनने से ही हम लोगों को यह मालूम हो गया कि जिस पारसमणि की हम अब तक तलाश कर रही थीं, वह हमे प्राप्त हो गया है। एक ही साँस में हम लोग चिल्ला उठीं—'अगर हम इसे चूक जाते तो ...।'

"जिन्होंने स्वामी विवेकानन्द के बाहरी व्यक्तित्व के बारे में बहुत कुछ सुना है उन्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि यह उनका व्यक्तित्व नहीं था, जिसने सर्वप्रथम सर्वाधिक प्रभाव डाला हो। वह शक्तिशाली पौरुषयुक्त आकृति, जिसने सभामंच पर कदम रखा, उस क्षीण तपस्वी के रूप से विपरीत थी, जिसे पश्चिम में अध्यात्म के साथ जोड़ा जाता है। एक कृषकाय सन्त की कल्पना सब कर सकते हैं, पर एक शक्तिशाली सन्त के बारे में किसने सुना है? जो शक्ति उनके दैवी शरीर से निर्गत

हुई, वह इतनी जबरदस्त थी कि उसने सबको भयाक्रान्त कर दिया। वह शक्ति दुर्दमनीय थी। उसने अपने सामने की सारी वस्तुओं को मानो बहा देने का आतंक फैला दिया था। इसका आभास उस समय कुछ अविस्मरणीय क्षणों में ही मिल गया था। इस शक्ति का कार्य तो हमें बाद में दिखने वाला था। यह वह मन था, जिसने सबसे पहले सबसे अधिक प्रभावित किया था। वह आश्चर्य-जनक मन! उसकी तेजस्विता, उसकी महानता और उसके सौन्दर्य का तनिक सा भी आभास कैसे दिया जा सकता है ? यह मन दूसरों के मनों को लाँघने में समर्थ था, यहाँ तक कि उनके मनों को भी, जो प्रतिभासम्पन्नों की श्रेणी में आते हैं। इसकी उनसे मूलगत भिन्नता थी। इसके विचार इतने सुलझे हुए, इतने शक्तिशाली तथा इतने अनुभवातीत थे कि यह विश्वास ही नहीं होता था कि वे एक सीमित मानव की बुद्धि से निःसृत हुए हैं। जैसे अद्भुत ये विचार थे, वैसा ही अवर्णनीय वह 'कुछ' था, जो उसके मन से प्रवाहित हुआ था और वह आश्चर्यजनक रूप से परिचित-सा प्रतीत हुआ। मैंने स्वय से कहा—'इस मन को तो मैंने पहले ही जान लिया है।' वे हम लोगों पर मानो सूर्य की पुंजीभूत रश्मियों की प्रखर स्वर्णिम लोहित आभा की भाँति फूट पड़े थे। सुदूर भारत से आये इस वक्ता की अवस्था मात्र तीस वर्ष रही होगी। वे चिर यौवन की तरुणाई से युक्त थे, किन्तु उनमें प्राचीन काल की प्रज्ञा की प्रौढ़ता भी थी। पहली बार हमने

पुरातन भारत का सन्देश--आत्मा का सन्देश--सुना।"

अमेरिका की महान् कवियित्री सारा बार्ड फील्ड (श्रीमती चार्ल्स एरस्किन स्टॉक वुड) ने डिट्रायट के एक उच्च विद्यालय की जर्मन भाषा की शिक्षिका कुमारी कुक के मुख से सुना था कि वह स्वामीजी की वक्तृत्व-शक्ति से इतनी प्रभावित हुई कि जीवन में पहली बार उसकी इच्छा हुई कि वक्ता को जाकर धन्यवाद ज्ञापित करे। वक्तृता के अन्त में वह स्वामीजी से मिली। किन्तु उनसे हाथ मिलाते समय वह इतनी अभिभूत हो गई कि उसके मुँह से एक भी शब्द नहीं निकला। स्वामीजी कुछ देर तक उसका हाथ पकड़े रहे। इस अनुभूति के सम्बन्ध में कुमारी कुक ने कहा था—"मैं उनकी सूक्ष्म भेदक दृष्टि को कभी नहीं भूलूँगी। उनकी मानवता और पवित्रता के प्रति मैं इतनी आश्वस्त हो गई थी कि इस पवित्र स्पर्श को बनाए रखने के लिए तीन दिनों तक मुझे हाथ साफ करने की इच्छा नहीं हुई!"

पहले व्याख्यान का विषय था 'भारत के रीति-रिवाज'। यह १४ फरवरी, बुधवार को यूनिटेरियन चर्च में आयोजित किया गया था। स्वामीजी का परिचय मेथाडिस्ट धर्माध्यक्ष बिशप डब्ल्यू० एक्स० निण्डे ने कराया। उन्होंने अपने भाषण का प्रारम्भ एक प्रार्थना से किया, जिसका अभिप्राय यह था कि प्रभु हीदनों (हिन्दुओं) पर कृपा करेंगे और उनसे वे लोग एक दिन अवश्य प्रकाश प्राप्त करेंगे। उनका ख्याल था कि अपने भाषण में

स्वामीजी अपने स्वदेशवासी विधर्मियों (हीदन) के रीति-रिवाजों के बारे में कुछ मनोरंजक बातें बतायेंगे, जैसा कि अन्य देश की बर्बर जातियों के बारे में सुनने को मिलता है। साथ ही साथ उन्हें इसकी भी पूर्ण आशा थी कि स्वामीजी परोक्ष या अपरोक्ष रूप से भारत में ईसाई मिशनरियों द्वारा किये गये कार्यों की अवश्य प्रशंसा करेंगे। किन्तु उनकी इन सारी आशाओं पर स्वामीजी ने तुषारापात कर दिया। स्वामीजी ने भारतवासियों की नैतिक चरित्रता, उनकी पवित्रता, उनकी जातिगत विशेषता, त्याग के आदर्श के प्रति उनकी महान् आस्था और उनकी नारी-जाति की महान् गरिमा का ऐसा सुन्दर वर्णन किया कि लोग आनन्द से विभोर हो उठे। उनकी प्रथम वक्तृता के बारे में श्रीमती मेरी सी० फंके ने लिखा--"वह विशाल कक्ष अक्षरशः ठसाठस भरा हुआ था। लोगों ने स्वामीजी का स्वागत किया। और मैं देख सकती हूँ--उस सम्राट् के सदृश तेजस्वी आकृति को-- सभा-मंच पर चढ़ते हुए उस ओजस्वी, प्रभावशाली और सशक्त आकृति को; और गूँज उठता है उस अद्भुत वाणी का पहला स्वर--वह स्वर जो पूर्णतया संगीत था--वीणा की तंत्री से निकलता हुआ, कभी करुण तो कभी गम्भीर, कम्पित और गूँजता हुआ। चारों ओर निस्तब्धता और शान्ति का ऐसा साम्राज्य छा गया जिसका केवल अनुभव किया जा सकता था। विशाल श्रोतावर्ग ने एक व्यक्ति-जैसी साँस ली थी।"

(क्रमशः)

अथातो — धर्म जिज्ञासा

प्रश्न–(१) ईश्वर के अस्तित्व का क्या अकाट्य प्रमाण है ? (२) कर्म-सिद्धान्त के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ? (३) जीवन का उद्देश्य क्या है ? (४) जीवन में शान्ति किस प्रकार प्राप्त की जाय ? उसके लिए क्या कोई साधना है ? (५) 'संशयात्मा विनश्यति' इस उक्ति के अनुसार हम आजकल के पढ़े-लिखे लोगों का इस प्रकार के ऊहापोह के कारण क्या नाश ही होगा ?

सेठ गोविन्ददास, संसद्-सदस्य

उत्तर–हम स्वयं। सामान्यतः जड़वादी या आज का मनोवैज्ञानिक मनुष्य को देह-मन की युति (body-mind-complex) मानता है। पर यह प्रकट है कि मन परिवर्तनशील है और सतत प्रवहमान है। इसी प्रकार, देह भी हरदम परिवर्तित हो रही है; यहाँ तक कि चिकित्साशास्त्री कहते हैं कि बारह वर्ष में देह के सारे परमाणु ही बदल जाते हैं। (इसी को हमने 'युग' के नाम से पुकारा है। सम्भवतः यह बात भारत में ज्ञात थी।)

अब प्रश्न यह उठा कि अगर देह और मन सतत परिवर्तनशील हैं, तो इसका ज्ञाता कौन है ? स्पष्ट ही, दोनों का ज्ञाता ऐसा होगा जो परिवर्तनशील न हो और जो देह-मन से भिन्न हो। जैसे, नदी का प्रवाह। नदी के प्रवाह के साथ यदि हम एकरूप रहें, तो उसका परिवर्तन नहीं जान सकते। उससे भिन्न हट-

कर ही उसकी परिवर्तनशीलता को जाना जा सकता है । इसी प्रकार, देह और मन के परिवर्तन का अनुभव करनेवाला ऐसा तीसरा तत्त्व है, जो इन दोनों से भिन्न है; वह स्थिर है और उसी के कारण देह और मन की सतत प्रवहमानता सम्बद्ध मालूम होती है।

जैसे, एक फिल्म । फिल्म अलग अलग टुकड़ों से बनी है। जब यही तेजी से भागने लगती है, तो कहेंगे कि अलग अलग टुकड़े जोरों से भाग रहे हैं । पर जब इसी को सामने स्थिर परदे पर डाला जाता है, तो उन अलग अलग टुकड़ों में एक सम्बद्धता मालूम होती है । यदि परदे को भी गति दे दी जाय, तो फिल्म में किसी प्रकार की शृंखला नहीं मालूम पड़ती । ठीक इसी प्रकार, उस तीसरे स्थिर तत्त्व की अवस्थिति के कारण ही भागते हुए देह और मन की क्रियाओं और विचारों में सम्बद्धता मालूम पड़ती है ।

इसी तीसरे तत्त्व को 'आत्मा' कहते हैं । इस प्रकार प्रत्येक प्राणी के भीतर यह आत्मा है । और चूँकि इस आत्मा का स्वभाव अपरिवर्तनशील और स्थिरता है, इसलिए यह शाश्वत है और चूँकि शाश्वत तत्त्व असीम ही हो सकता है (क्योंकि जहाँ भी सीमा है, वहीं परिवर्तन है), इसलिए आत्मा एक ही है; दो आत्मा नहीं हो सकते. दो असीम नहीं हो सकते। यह आत्मा सर्वव्यापी है और इसी को हम सामान्य बोलचाल की भाषा में 'ईश्वर' के नाम से पुकारा करते हैं। यह ईश्वर ही प्रत्येक जीव में आत्मा के नाम से पुकारा जाता है ।

आइन्सटीन ने भी ईश्वर को imitable Superior Spirit के नाम से पुकारा है ।

(२) कर्म-सिद्धान्त अटल है । जैसा कर्म, वैसा फल । कर्म के पीछे जो भावना रहती है, उसी के अनुरूप फल मिला करता है ।अतएव, कह सकते हैं कि भावनाशून्य कर्म का कोई फल नहीं होता । पूछा

जा सकता है कि क्या भावनाशून्य कर्म कोई कर सकता है? उत्तर है—हाँ।

हमारा कार्य जब यांत्रिक रूप से होता है, यानी शरीर से तो हम कर्म करते हैं पर मन हमारा अन्यत्र रहता है, तो इस प्रकार के किये कर्मों का कोई फल नहीं होता। कर्म के बाह्य रूप के अनुसार फल नहीं मिलता, बल्कि कर्म के पीछे की भावना के अनुरूप फल मिलता है।

इस सन्दर्भ में एक प्रश्न और उठ सकता है। कोई व्यक्ति ऊपर से दुष्कर्म-सा दीखनेवाला कर्म करता है, पर वह कहे कि मैं भावनाशून्य होकर करता हूँ या इस कर्म के पीछे मेरी भावना पवित्र है, तो ऐसे में तो व्यभिचारी भी ऐसा कह सकता है। कई धर्म के क्षेत्र के नेता दुष्कर्म करते हैं, पर कह देते हैं कि मन से अलिप्त हूँ। ऐसी दशा में क्या होगा? इसका उत्तर यह है कि यह छल-कपट है। ऐसा कहनेवाला मनुष्य दूसरों को तो ठग ही रहा है, साथ ही खुद को ठगता है। यह सारी चर्चा एक सच्चे व्यक्ति के सन्दर्भ में की जा रही है। यानी कर्म का सिद्धान्त यह है कि कर्म के बाहरी रूप पर फल का रूप निर्भर नहीं करता, कर्म के पीछे की भावना के अनुरूप फल मिला करता है।

(३) जीवन का उद्देश्य है—देह और मन के ऊपर उठकर आत्मा को पहचान लेना, यानी आत्मा रूपी परम सत्य का अनुभव।

स्वामी विवेकानन्द ने इसी बात को इस प्रकार व्यक्त किया है—"प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्तः प्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। कर्म, उपासना, मनःसंयम अथवा ज्ञान, इनमें से एक, एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपना ब्रह्मभाव व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ। बस, यही धर्म का सर्वस्व है। मत, अनुष्ठान-पद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा अन्य

बाह्य क्रिया-कलाप तो उसके गौण ब्योरे मात्र हैं।"

(४) संसार के स्वरूप का विचार करना, बुरे और पाप से यथाशक्ति बचना और योग का अभ्यास--एकमात्र यही शान्ति का उपाय है। योग की स्थिति को प्राप्त करने का प्रयत्न ही साधना कहलाता है। ऐसा प्रयत्न मात्र वैचारिक भी हो सकता है, जिसमें किसी प्रकार की बाह्य क्रिया की अपेक्षा नहीं रहती। इस उपाय को ज्ञानयोग भी कहते हैं। वह अपने यथार्थ स्वरूप का विचार है--'आत्मानं विजानीहि'। विचार की इतनी योग्यता जिनके पास नहीं, वे रुचि और सामर्थ्य के अनुसार राजयोग (अष्टांग योगसाधन), भक्तियोग और कर्मयोग का सहारा ले सकते हैं।

(५) संशय तो ज्ञान की एक आवश्यक सीढ़ी है। संशय में से हमें अनिवार्य रूप से गुजरना होता है। यहाँ 'संशयात्मा विनश्यति' का भाव दूसरा है। हममें संशय पैदा हुआ और तर्क द्वारा हमने उसका समाधान भी कर लिया। परन्तु फिर भी संशय नहीं जाता। तो ऐसा संशय हमारे मन को एकाग्र नहीं होने देता। 'विनश्यति' का तात्पर्य है आदर्श से विच्यति। संशय जब तक रहे तब तक ध्येय या साध्य के प्रति दृढ़ता नहीं उत्पन्न होगी और साध्य के प्रति अगर दृढ़ता न हो, तो साधना में भी तीव्रता नहीं आ पाती। यही 'विनश्यति' का अर्थ है।

जैसे, कल्पना कीजिए, मैं एक नहर के डेढ़ फुट सकरे पार पर से जा रहा हूँ और जमीन वहाँ से लगभग पचास फुट नीचे है। अगर संशय है कि मैं चल पाऊँगा या नहीं, तो बहुत सम्भव है कि मैं गिर ही पड़ूँ। पर एक मिस्त्री जो उस पार को बना रहा है, उसी सकरे पार से दौड़ जाता है। क्यों? इसलिए कि वह confident है, आश्वस्त है कि वह दौड़ जायगा। संशय हमारे confidence को, मन की दृढ़ता को डाँवाँडोल कर देता है।

❖

रामकृष्ण मिशन समाचार

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, कनखल (हरिद्वार)

मन्दिर प्रतिष्ठापन समारोह

१३ अप्रैल के पुनीत पर्व पर रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, कनखल के नवनिर्मित श्रीरामकृष्ण-मन्दिर का प्रतिष्ठापन समारोह पूज्यपाद श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। यज्ञ-हवन-होम आदि के द्वारा आश्रम का बृहत् प्रांगण मुखरित रहा। प्रभात-वन्दना और भजन आदि से सारा वातावरण स्वर्गिक बन गया था। सारा दिन भजन और कीर्तन में बीता। रात्रि में सोपचार काली-पूजा हुई। समीप और सुदूर से बहुत से संन्यासी तथा भक्त नर-नारी इस कार्यक्रम में सम्मिलित होने के लिए उपस्थित हुए थे। मन्दिर सुन्दर और आकर्षक बना है।

१४ अप्रैल की सन्ध्या इस समारोह के उपलक्ष में एक सार्वजनिक सभा हुई जिसकी अध्यक्षता मैसूर के भूतपूर्व राज्यपाल श्री धर्मवीर ने की। इस अवसर पर रामकृष्ण मिशन दिल्ली केन्द्र के स्वामी वन्दनानन्द ने अंग्रेजी में तथा वृन्दावन और रायपुर केन्द्रों के स्वामी भक्तानन्द एवं स्वामी आत्मानन्द ने हिन्दी में व्याख्यान दिये।

१५ अप्रैल को षड्दर्शन-गोष्ठी का आयोजन किया गया था जिसमें उस अंचल के प्रसिद्ध विद्वान् महामण्डलेश्वरों और आचार्यों ने भाग लेते हुए न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा (वेदान्त) इन छः दर्शनों पर विचार प्रस्तुत किये। इस कार्यक्रम का सभापतित्व रामकृष्ण मठ और मिशन के अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज ने किया। अपने सारगर्भित अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव और स्वामी विवेकानन्द के जीवनालोक में भारत के विभिन्न दर्शनों का सुन्दर समन्वय साधित किया और आज के वैज्ञानिक युग में मन्दिरों की भूमिका पर अकाट्य तर्क प्रस्तुत किये। स्वामी आत्मानन्द ने उनका यह अंग्रेजी भाषण श्रोताओं के लाभार्थ हिन्दी में अनूदित किया।

सेन्टर वेदान्तिक रामकृष्ण, ग्रेट्ज़, फ्रांस
१९७० की रिपोर्ट

इस केन्द्र का बीजारोपण स्वामी यतीश्वरानन्दजी द्वार पैरिस में सन् १९३६ में हुआ था। इसके थोड़े ही पश्चात् स्वामी सिद्धेश्वरानन्द ने आकर यहाँ का कार्य सँभाला और अपने अन्तिम दिनों तक (१९५७ तक) वे यहाँ कार्यरत रहे। रोम्याँ रोल बुलेवर्ड, ७७-ग्रेट्ज़ पर केन्द्र की जो अपनी सम्पत्ति है, वह १९४ में प्राप्त की गयी। यह स्थान पैरिस से आग्नेय दिशा में बीस मील दूर है। १९६१ से यहाँ का कार्यभार स्वामी ऋतजानन्द के कन्धों पर है। स्वामी विद्यात्मानन्द उनके सहायक हैं।

बीस एकड़ में फैला, बाग-बगीचों और डेयरी से युक्त यह आश्रम यूरोप भर में फैले अपने सदस्यों और मित्रों के लिए आध्यात्मिक प्रेरणा का एक आदर्श स्थल है। प्रतिदिन सामूहिक ध्यान का अभ्यास किया जाता है, शास्त्र-ग्रन्थों का पठन-पाठन होता है, विशेष धार्मिक पर्वों का सोत्साह आयोजन किया जाता है और प्रति रविवार को सार्वजनिक व्याख्यान होता है। पैरिस में जहाँ सन् १९०० में स्वामी विवेकानन्द ठहरे थे, वहाँ नियमित रूप से भगवद्गीता पर वर्ग लगते हैं।

स्वामी ऋतजानन्द जिज्ञासुओं को आध्यात्मिक जीवन के सम्बन्ध में सलाह-सुझाव देते हैं। उन्होंने फ्रांस के कई स्थानों पर तथा बेलजियम और हालैण्ड में व्याख्यान दिये। विसबेडन जर्मनी का अध्ययन वर्ग, जो स्वामी यतीश्वरानन्दजी के जमाने में शुरू हुआ था, आज भी नियमित रूप से ऋतजानन्दजी के नेतृत्व में मिला करता है और अब तो वह एक धार्मिक संस्था के रूप में पंजीबद्ध भी हो गया है।

यह केन्द्र फ्रेंच भाषा में 'वेदान्त' नामक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन भी करता है।

•